पुस्तक प्राप्ति स्थान :

१. गुमानमल उमरावमल चौरडिया
सोथली वालो का रास्ता, जयपुर-३

२ श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ,
रागडी मोहल्ला, बीकानेर (राज०)

प्रकाशक

जयपुर चातुर्मास प्रवचन प्रकाशन समिति

मूल्य

तीन रुपये पचास पैसे मात्र

मुद्रक

प्रेमचन्द जैन

प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस

१/११, साहित्य कुंज, महात्मा गाधी मार्ग, आगरा-२

सम्पादकीय निवेदन

वीतराग वाणी की परम्परा मे प्रवाहित ज्ञान की निर्मल धारा मे कठोर-संयमी जीवन के श्रेष्ठ अनुभवो का सगम होने पर जब जो प्रेरक प्रवचन प्रस्फुटित होते हैं, उनमे जीवन को सहयोगी, त्यागी एव विरागी बनाने का अद्भुत उद्बोधन होता है। आचार्य श्री नानालालजी मा० सा० के प्रवचन ऐसी ही परिपुष्ट आत्मिक शक्ति से उद्भूत होते हैं जो श्रोताओ के हृदय को छूते हुए उन्हें अतीतकालीन गौरव की झलक दिखाते हैं, वर्तमान का तथ्यात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं तो भविष्य की आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त बनाते हैं। बाल-ब्रह्मचारी आचार्य श्री की वाणी मे ऐसा ही ओज और तेज समाहित है।

जयपुर चातुर्मास प्रवचन प्रकाशन समिति का यह सौभाग्य है कि उसे आचार्य जी के जयपुर-कालीन चातुर्मास के प्रवचनो को 'पावस-प्रवचन' के नाम से अगणित पाठको के लिये प्रकाशित करने का सुअवसर मिला है। यह प्रकाशन समिति की सद्भावना एव साहसपूर्ण सदाशयता का प्रतीक है।

पावस-प्रवचन के इस तृतीय भाग मे सम्मिलित २४ प्रवचनो का सम्पादन करने का मुझे भी जो सौभाग्य मिला है, उसका मुझे हर्ष है। जब एक धारा मे आचार्य श्री का व्याख्यान चलता है और उस समय उसका जो गहरा प्रभाव पडता है—वैसा प्रभाव तो इस सम्पादन मे सम्भवत. परिलक्षित न हो, किन्तु मैंने अपनी ओर से पूरा प्रयास किया है कि आचार्य श्री के मौलिक भावो का पूर्णत निर्वाह करते हुए उनकी भाषा एव शैली के प्रवाह को भी यथासाध्य बनाये रखा जाय। भाषण और लेखन मे स्थायी साहित्य की दृष्टि से जो अन्तर आ जाता है और आना चाहिये, उतनासा अन्तर अवश्य ही इस सम्पादन मे मिलेगा।

इस प्रवचन-संग्रह को पढते समय फिर भी जो विसंगतियाँ, दोष एव अ-प्रासगिकता पाठको को महसूस हो, वे सब सम्पादक की मानकर उसके लिये वे सम्पादक को क्षमा करें।

श्रद्धा के दो शब्द

परम् श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी मा० सा० के जयपुर चातुर्मास का तृतीय पुष्प आपकी सेवा मे प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है।

आचार्य श्री के जयपुर चातुर्मास के प्रवचनो का प्रमुख विषय 'समता दर्शन' रहा—इस सामायिक समता दर्शन पर विस्तार से विवेचन-विश्लेषण व व्याख्या आचार्य श्री के मुखारविन्द से प्रस्तुटित हुई वाणी आज के समाजवादी युग मे विशेष मननीय व विचारणीय है। पाठक आचार्य श्री के प्रवचनो से प्रेरणा लें व समता दर्शन का घर-घर में प्रसार हो—यही हमारी कामना है।

प्रस्तुत प्रकाशन मे आचार्य श्री के २४ प्रवचनो का संकलन है, जिसका मूल्य तीन रु० पचास पैसे रखा गया है। पुस्तक का कलेवर बढ जाने से मूल्य मे अभिवृद्धि की गई है।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधु-मार्गी सघ के पदाधिकारियो, विशेषत सर्वश्री गणपतलाल जी सा० बोहरा, सरदारमल जी सा० कांकरिया तथा भवरलाल जी सा० कोठारी, जयपुर चातुर्मास प्रकाशन समिति के सदस्यो आदि महानुभावो ने अपना जो सहयोग दिया है, तथा प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस के संचालक श्री पदमचन्द जी जैन ने जो सहयोग दिया है, उसके लिये मैं सब महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ।

दिनाक
१३-३-७३

ज्ञानचन्द चौरड़िया
एम० ए०, वी० कॉम०, एल-एल० वी०
सयोजक
जयपुर चातुर्मास प्रवचन प्रकाशन समिति

अनुक्रमणिका

● समता का धरातल

"ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे . . "

कवि ने प्रार्थना की इन पक्तियो मे भगवान् श्री ऋषभदेव की आराधना पति-रूप मे की है। प्रभु को प्रीतम बनाना भी साधारण बात नही है। आत्मशक्ति के प्रकटीकरण के साथ जब यह आत्मा अपने स्वरूप प्रकाशन की दृष्टि से प्रभु की अनुगामिनी बनती है, तभी तो भक्ति का रूप इस निकटतम सम्बन्ध वाला हो सकता है। प्रभु के तुल्य अपने जीवन को बनाने का जब तक कठिन प्रयास प्रारम्भ नही किया जायगा, तब तक इस आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से जुड ही कैसे सकता है और कैसे एक भक्त उन्हे कन्त कह सकता है ?

प्रभु के समान ही प्रकृति ढल जाय—आत्मा परमात्म स्वरूप को वरण कर ले—इस दिशा मे कई विचारको ने विविध प्रकार से विचार किया है तथा अपने-अपने मत से विविधि उपायो का कथन किया है। इनमे समता दर्शन का विशिष्ट महत्व है। ससार मे अधिकाशत दु खपूर्ण परिस्थितियो मे कारण रूप विषमता ही दिखाई देती है। यह विषमता चाहे परिवार, समाज या राष्ट्र आदि मे सासारिक दृष्टि से हो अथवा धार्मिक क्षेत्र मे मर्यादा, श्रद्धा या सम्मान के विचार से—सर्वत्र क्लेश ही ही पैदा करती है। समता और विषमता का सम्बन्ध मुख्यत मानसिक विचारधारा के साथ होने के कारण प्रत्यक्ष पदार्थो का प्रभाव भी नगण्य हो जाता है।

इसके लिये एक दृष्टान्त लें। चार पुरुषो को एक साथ भोजन करने के लिये विठावें, किन्तु एक की थाली मे वादाम की कतली परोसे, दूसरे की थाली मे आप हलुआ रखें, तीसरे की थाली मे गेहूं का फुल्का और चौथे की थाली मे सिर्फ वाजरे की रोटी रखे तो आप अनुमान लगाइये कि चारो की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या होगी ? अगर सभ्यता का भाव कम हो तो भले ही पहली थाली वाला खुश हो जायगा, वरना विषमता की दृष्टि से किसी का भी मन प्रसन्न नही होगा, वरना रुष्टता की स्थिति भी हो सकती है। इसके विपरीत, चारो थालियो मे सिर्फ वाजरे की रोटी ही रख दें तो

समान व्यवहार के कारण असन्तोष तो होगा ही नही। समता और विषमता के व्यवहार का ऐसा प्रभाव होता है—मनुष्य के मानस पर।

समता के लिये संघर्ष

मानव जाति के वैज्ञानिक इतिहास पर एक नजर डाले तो समझ मे आयगा कि मनुष्य—मनुष्य के प्रति समता का एक अनुभाव सदा ही विवेकशील व्यक्तियो के चिन्तन मे रहा है, बल्कि समता के लिये सदा सघर्ष भी होता आया है, और यह कहा जा सकता है कि इस देश मे अथवा अन्यत्र यह सघर्ष वर्तमान मे भी चल रहा है। अपने यहाँ कहा है कि पाँचो अगुलियाँ समान नही होती, उसी तरह शक्ति और क्षमता की दृष्टि से सभी मनुष्य समान नही होते, फिर भी समाज मे सबको समान व्यवहार एव उन्नति के समान अवसर मिले—इस उद्देश्य से यह सघर्ष है।

राजनीतिक क्षेत्र मे हर बली या दुर्बल को एक मत देने के अधिकार के रूप मे सबको जो समानता मिली है, वह इसी सघर्ष का परिणाम कहा जाता है। आर्थिक क्षेत्र मे समाजवाद या साम्यवाद के रूप मे जो सघर्ष चल रहा है, उसकी भी अन्तर्धारा यही है कि सम्पत्ति और धन की बजह से नागरिको मे विषमता का वातावरण नही रहना चाहिये। आर्थिक स्रोतो की समानता स्थापित करने से मानव की प्रकृति। प्रदत्त प्रतिभा के साथ खिलवाड नही हो सकेगा—ऐसा उनका कथन है। सामाजिक क्षेत्र मे गोरे-काले रग वाले लोगो के बीच अथवा परिगणित जातियो एव सवर्णो के बीच किसी न किसी रूप मे समानता के लिये सघर्ष चल रहा है।

यह सघर्ष मनुष्य की इस अन्तर्भावना का प्रतीक है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच की सभी तरह की विषमताओ को घटाकर अधिक से अधिक समता की स्थिति कायम की जाय।

समता से सद्भाव की सृष्टि

किसी भी क्षेत्र मे हो—जितनी विपमता है, वहाँ राग-द्वेष, प्रतिशोध और अपराध अधिक से अधिक घनत्व लिए हुए मिलेंगे। बाह्य विषमता सामान्य रूप से अन्तर की परिणाम जन्य विपमता को भी जन्म देती है। इसी की विपरीत स्थिति यह होती है कि जितने अशो मे समता होगी, उतने ही अशो मे सद्भाव की सृष्टि होगी। परस्पर व्यवहार और विचार मे जितनी समता वढेगी, उतना ही राग-द्वेष कम होगा और कलुप कम फैलेगा। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का कम-ज्यादा अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता रहता है। अनुभव के थपडे ही उसे सिखाते है कि यदि सम्मान पाना है तो सभी के साथ सम्मान भरा व्यवहार करो, और यदि स्वयं सुख ‌की अनुभूति लेनी है तो सबको सुख देने का यत्न भी करो।

वर्तमान युग को अर्थ-प्रधान युग के नाम से पुकारा जाता है और उसका यही कारण है कि इस युग मे छोटे-बडे का मापदण्ड उसकी योग्यता, उसकी सद्गुण-शीलता अथवा उसकी आत्मशक्ति नही, वल्कि सत्ता या धन सम्पन्नता है। जो सत्ता और सम्पत्ति का जिस परिमाण मे स्वामी है वह उसी रूप मे वडा समझा जाता है और इनसे हीन छोटे लोग। छोटे-वडे की यह गणना ही वास्तव मे अस्वाभाविक तथा अमानवीय है कोई वास्तविक मापदड मनुष्य की महानता का हो सकता है तो वह गुणशीलता ही, और जहाँ गुणशीलता है वहाँ व्यवहार मे कभी क्षुद्रता नही होगी एव सच्ची वात तो यह है कि गुणशीलता का समता-भरा व्यवहार पाकर एक क्षुद्र व्यक्ति भी अपने आप को सशोधित कर लेगा।

यह एक सत्य है कि समता से सद्भावना, सदाशयता एव सहयोगिता का अवश्य ही प्रसार होगा तथा यही समता दार्शनिक प्रभाव डालती हुई मनुष्य को 'वसुधैव कुटुम्वकम्' के व्यापक लक्ष्य की ओर ले जाती है एवं सभी आत्माओ के साथ आत्मानुभूति स्थापित कराती है।

समता का मानसिक रूप

जैसा कि मैंने वताया कि किसी भी क्षेत्र मे प्रगति की आकाक्षा रखने वाला मनुष्य यदि पहले समता के धरातल का निर्माण कर लेता है तो उस धरातल पर जिस किसी सत्साधन की सहायता से वह गतिशील वनेगा तो उसमे उसे सफलता अवश्य ही मिलेगी।

उदाहरण के रूप मे मैं अपको वताऊँ कि आत्मशुद्धि के लिये तपश्चर्या करने का क्या विधान है ? कहा जाता है कि जितना अधिक तप किया जायगा, उतनी ही अधिक आत्मा निर्मल वनेगी। एक गीतकार ने भी वताया है—

"तप वडो रे ससार मे, जीव उज्ज्वल होवे रे "

वास्तव मे तप का कम महत्व नही है, किन्तु यह भी समझने की वात है कि क्या कोरा तप ही निर्मलता को वना देगा अथवा उससे पहले समता का धरातल वना हुआ होना चाहिये तथा मानसिक दृष्टि से समता का भावनापूर्ण वातावरण वन जाना चाहिये ? तप का उद्देश्य निर्जरा वताया गया है और सोचें कि निर्जरा का तात्पर्य क्या है ? आत्मस्वरूप के ऊपर जो कर्म-मैल चढा हुआ है, वह जितने अशो मे हटता जाए और आत्मा का निखालिस रूप चमकता जाए, उसे निर्जरा कहते है। वँधे हुए कर्म कटें तव निर्जरा होती है।

निर्जरा किस प्रकार के तप से होती है ? मानसिक धरातल की ओर तो कोई लक्ष्य किया नही तथा उपवास, वेला, तेला या अधिक तप करके वैठ गये तो क्या विना रागद्वेषादि मानसिक वृत्तियो की उग्रता को दवाए ही सिर्फ तपाराधन से कर्मों का

समान व्यवहार के कारण असन्तोप तो होगा ही नही । समता और विपमता के व्यवहार का ऐसा प्रभाव होता है—मनुष्य के मानस पर ।

समता के लिये संघर्ष

मानव जाति के वैज्ञानिक इतिहास पर एक नजर डाले तो समझ मे आयगा कि मनुष्य—मनुष्य के प्रति समता का एक अनुभाव सदा ही विवेकशील व्यक्तियो के चिन्तन मे रहा है, बल्कि समता के लिये सदा सघर्प भी होता आया है, और यह कहा जा सकता है कि इस देश मे अथवा अन्यत्र यह सघर्प वर्तमान मे भी चल रहा है । अपने यहाँ कहा है कि पाँचो अगुलियाँ समान नही होती, उसी तरह शक्ति और क्षमता की दृष्टि से सभी मनुष्य समान नही होते, फिर भी समाज मे सबको समान व्यवहार एव उन्नति के समान अवसर मिले—इस उद्देश्य से यह सघर्ष है ।

राजनीतिक क्षेत्र मे हर बली या दुर्बल को एक मत देने के अधिकार के रूप मे सबको जो समानता मिली है, वह इसी सघर्ष का परिणाम कहा जाता है । आर्थिक क्षेत्र मे समाजवाद या साम्यवाद के रूप मे जो सघर्प चल रहा है, उसकी भी अन्तर्धारा यही है कि सम्पत्ति और धन की वजह से नागरिको मे विपमता का वातावरण नही रहना चाहिये । आर्थिक स्रोतो की समानता स्थापित करने से मानव की प्रकृति। प्रदत्त प्रतिभा के साथ खिलवाड नही हो सकेगा—ऐसा उनका कथन है । सामाजिक क्षेत्र मे गोरे-काले रग वाले लोगो के बीच अथवा परिगणित जातियो एव सवर्णों के बीच किसी न किसी रूप मे समानता के लिये सघर्ष चल रहा है ।

यह सघर्ष मनुष्य की इस अन्तर्भावना का प्रतीक है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच की सभी तरह की विषमताओ को घटाकर अधिक से अधिक समता की स्थिति कायम की जाय ।

समता से सद्भाव की सृष्टि

किसी भी क्षेत्र मे हो—जितनी विपमता है, वहाँ राग-द्वेष, प्रतिशोध और अपराध अधिक से अधिक घनत्व लिए हुए मिलेंगे । वाह्य विषमता सामान्य रूप से अन्तर की परिणाम जन्य विषमता को भी जन्म देती है । इसी की विपरीत स्थिति यह होती है कि जितने अशो मे समता होगी, उतने ही अशो मे सद्भाव की सृष्टि होगी । परस्पर व्यवहार और विचार मे जितनी समता वढेगी, उतना ही राग-द्वेष कम होगा और कम फैलेगा । यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया का कम-ज्यादा व प्रत्येक व्यक्ति को होता रहता है । अनुभव के थपडे ही उसे सिखाते है कि यदि न पाना है तो सभी के साथ सम्मान भरा व्यवहार करो, और यदि स्वय सुख ा अनुभूति लेनी है तो सबको सुख देने का यत्न भी करो ।

वर्तमान युग को अर्थ-प्रधान युग के नाम से पुकारा जाता है और उसका यही कारण है कि इस युग मे छोटे-बडे का मापदण्ड उसकी योग्यता, उसकी सद्गुणशीलता अथवा उसकी आत्मशक्ति नही, वल्कि सत्ता या धन सम्पन्नता है। जो सत्ता और सम्पत्ति का जिस परिमाण मे स्वामी है वह उसी रूप में बडा समझा जाता है और इनसे हीन छोटे लोग। छोटे-वडे की यह गणना ही वास्तव मे अस्वाभाविक तथा अमानवीय है कोई वास्तविक मापदड मनुष्य की महानता का हो सकता है तो वह गुणशीलता ही, और जहाँ गुणशीलता है वहाँ व्यवहार मे कभी क्षुद्रता नही होगी एव सच्ची वात तो यह है कि गुणशीलता का समता-भरा व्यवहार पाकर एक क्षुद्र व्यक्ति भी अपने आप को सशोधित कर लेगा।

यह एक सत्य है कि समता से सद्भावना, सदाशयता एव सहयोगिता का अवश्य ही प्रसार होगा तथा यही समता दार्शनिक प्रभाव डालती हुई मनुष्य को 'वसुधैव कुटुम्वकम्' के व्यापक लक्ष्य की ओर ले जाती है एव सभी आत्माओ के साथ आत्मानुभूति स्थापित कराती है।

समता का मानसिक रूप

जैसा कि मैंने वताया कि किसी भी क्षेत्र मे प्रगति की आकाक्षा रखने वाला मनुष्य यदि पहले समता के धरातल का निर्माण कर लेता है तो उस धरातल पर जिस किसी सत्साधन की सहायता से वह गतिशील वनेगा तो उसमे उसे सफलता अवश्य ही मिलेगी।

उदाहरण के रूप मे मैं अपको वताऊँ कि आत्मशुद्धि के लिये तपश्चर्या करने का क्या विधान है ? कहा जाता है कि जितना अधिक तप किया जायगा, उतनी ही अधिक आत्मा निर्मल वनेगी। एक गीतकार ने भी वताया है—

"तप वडो रे ससार मे, जीव उज्ज्वल होवे रे "

वास्तव मे तप का कम महत्व नही है, किन्तु यह भी समझने की वात है कि क्या कोरा तप ही निर्मलता को वना देगा अथवा उससे पहले समता का धरातल वना हुआ होना चाहिये तथा मानसिक दृष्टि से समता का भावनापूर्ण वातावरण वन जाना चाहिये ? तप का उद्देश्य निर्जरा वताया गया है और सोचें कि निर्जरा का तात्पर्य क्या है ? आत्मस्वरूप के ऊपर जो कर्म-मैल चढा हुआ है, वह जितने अशो मे हटता जाए और आत्मा का निखालिस रूप चमकता जाए, उसे निर्जरा कहते है। वँधे हुए कर्म करें तव निर्जरा होती है।

निर्जरा किस प्रकार के तप से होती है ? मानसिक धरातल की ओर तो कोई लक्ष्य किया नही तथा उपवास, वेला, तेला या अधिक तप करके वैठ गये तो क्या विना रागद्वेषादि मानसिक वृत्तियो की उग्रता को दवाए ही सिर्फ तपारावन से कर्मो का

क्षय हो जायगा ? तप की सिर्फ बाह्य दृष्टि आत्मा मे विशेप परिवर्तन ला सके—इसकी सम्भावना कम रहती है, हाँ, उससे शरीर भले ही कृश हो जाय। तपाराधन मे मानसिक या वैचारिक सलग्नता आवश्यक है।

सम, समता और सम्यक्त्व

तप के साथ यदि सम है, समता है और सम्यक्त्व है तभी वैसा तप आत्मा को विशुद्ध वनाने वाला होता है। यदि तपस्या के साथ शमन-वृत्ति नही है तो आत्मा की कषाय शमित कैसे होगी ? तप तो किया—मगर क्रोध नही छोडा तो वह तप आत्मा को निर्मल कैसे वना सकेगा ? तपश्चर्या का व्रत ग्रहण करके विपमता का व्यवहार करते रहे और विषमता का वातावरण वनाते रहे तो उस तप के साथ रागद्वेप का सह-अस्तित्त्व कैसे निभेगा ? यदि तपाराधन के साथ सम्यक्त्व नही है—शुद्ध श्रद्धान नही है और केवल तप को सम्पूर्ण महत्त्व दिया जा रहा है तो उस तप के द्वारा अकाम निर्जरा की स्थिति तो भले ही हो जाय—उस तप से पुण्य का बँध होकर स्वर्गादि सुख भले ही मिल जाय, किन्तु परमात्मा के साथ जो प्रीति का सम्बन्ध है; अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति का जो रिश्ता है, वह इस तप से नही वन सकेगा।

आप सोचेंगे कि क्यो नही ? तप मे तो बहुत बडा कष्ट होता है और मन की मजबूती के विना तप का आराधन भी कठिन होता है, फिर कोरे तप से आत्म-विकास का द्वार क्यो नही खुलता ? तप विवेक और अन्तर्ज्ञान के साथ हो—मानसिक तैयारी के साथ हो तो वह तप विशेष रूप से सार्थक वनता है। तपश्चर्या मे अन्न का त्याग किया जाता है तथा उसके साथ ही कपायो और विषय-विकारो का भी त्याग किया जाना चाहिये।

उपवास कैसा हो ?

उपवास की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

"विषयकषायआहारः त्यागो यत्र विधीयते।
स उपवासः विज्ञेय शेषं लंघनं विदु ॥"

विषय, कषाय और आहार—इन तीनो का एक साथ त्याग हो, तब उसे शास्त्रकारो ने उपवास की सज्ञा दी है। इसके बिना वह लघन मात्र कहलायगा। अब सोचिये कि इस भूखे रहने के साथ कितना वैचारिक और मानसिक निर्माण जुडा आ है और उसके पूरा होने पर ही सफल तपाराधन का प्रसंग बनता है।

इस श्लोक मे विषयो से तात्पर्य इन्द्रियो के विषयो से है—मोह दशा से है। कपाय का अर्थ—है क्रोध, मान, माया और लोभ। उपवास मे या अधिक तपश्चर्या

मे जैसे आहार का त्याग किया, वैसे ही इन्द्रिय-सुख का त्याग करो, क्रोध-मान, माया और लोभ की वृत्तियो को छोडो, तभी तप का पूर्ण रूप उपस्थित होगा। इन वृत्तियो और विकारो को छोडने के लिये जब तक मानसिक पृष्ठभूमि नही होगी, समता के धरातल का पहले निर्माण किया हुआ नही होगा तो इन्हे छोडने का ज्ञान और कर्म कैसे जगेगा ? यदि यह नहीं हुआ और आहार मात्र का ही त्याग किया तो भला बताइये उससे आत्मा की निर्मलता कैसे बढेगी ?

आहार त्याग किया और गुस्से की प्रवृत्ति भी चल रही है तो क्या वैसा तप आलोचना का विषय नही बनेगा ? फिर ऐसे कोरे तप को उत्तम तप की श्रेणी मे भी कैसे रखेंगे ? जब क्रोध नही छूटा—स्वभाव मे समता नही आई तो उस तप से आत्म-विकास की गति बढे, ऐसी आशा दुराशा मात्र होगी। तप ऐसा होना चाहिये जिससे शान्ति, नम्रता, सरलता और निर्लोभ-निर्विकार की श्रेष्ठ वृत्तियो का विकास हो सके।

तप और समता भावना

भगवान् महावीर ने कहा है कि कोई व्यक्ति मासखमण की तपश्चर्या करे—एक माह तक गरम जल ले और पारणे के दिन दूब के पत्ते पर आवे, इतना अल्पतम अन्न ग्रहण करे तथा फिर मासखमण कर ले, ऐसा उग्र तपस्वी भी यदि आवश्यक मानसिक पृष्ठभूमि के साथ नही चलता है तो वह तपस्वी भी भगवान् के मार्ग पर चलने वाले की सोलहवी कला को भी नही पहुँच सकता है। इसके विरुद्ध एक व्यक्ति अधिक तपश्चर्या नही कर रहा है—अपनी शक्ति के अनुसार ही कर रहा है किन्तु वैचारिक एव मानसिक दृष्टि से अपने जीवन मे समता-भाव और सम्यक् दर्शन लेकर चल रहा है, क्रोध-मान आदि कषायो को छोड रहा है—विषय-विकारो को पतला बना रहा है तो कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति उस उग्र तपस्वी की अपेक्षा भगवान् के मार्ग के अधिक सन्निकट है।

आत्मा के शुभाशुभ परिणामो पर तदनुसार कर्म बन्धन होता है अथवा कर्मों का क्षयोपशम होता है और इसलिये समता भावना के जरिये जब तक इन परिणामो पर नियन्त्रण कायम नही हो, सिर्फ आहार त्याग श्रेयस्कर नही बन सकता है। जब आत्म-नियन्त्रण के साथ तपाराधन किया जाय तो उससे निश्चय ही वासनाओ की गति मन्द होगी, विकार घटेंगे और आत्मा का कर्म-मैल कटकर उसकी निर्मलता अभिवृद्ध होगी।

समता में वर्ण-विषमता भी नहीं

जैन सिद्धान्तो ने वर्ण की दृष्टि से वर्ण को कभी महत्व नही दिया है। इस वर्ण-विषमता का स्थान समता दर्शन मे नही है। अपने कर्म के शुभाशुभ परिणामो

की दृष्टि से ही वर्ण माने है—"कम्मुणा वंमणो होई, कम्मुणा हवई खत्तियो।" समता दर्शन वाले के सामने यदि जाति से कोई ब्राह्मण है, किन्तु नीच कर्म कर रहा है तो वह ब्राह्मण भी शूद्र के समान ही होगा। महाजन होकर अनैतिकता करता है तब भी शास्त्रकार उसे नीचा ही मानते हैं। इस शास्त्रीय मान्यता का अर्थ हुआ कि सभी इन्सान समान होते हैं और उनका कोई भी स्वस्थ वर्गीकरण हो सकता है तो वह उनके कर्म के आधार पर किया जा सकेगा—वर्ग के आधार पर नही।

जहाँ मानव समाज मे समता का अनुभाव फैला होता है तो उसमे वर्ण, जाति या अन्य किसी प्रकार की विषमता को कोई स्यान नही होता। समतामय वातावरण मे प्रगति की एक स्वस्थ होड जरूर होती है, जो गुण और कर्म के आधार पर चलती है। जिसके गुण और कर्म ऊँचे तो वह ऊँचा, और जिसके गुण व कर्म नीचे तो वह नीचा—समता दर्शन वाले का ऐसा ही वर्गीकरण होता है। नीचे को भी वह नीचा मानकर वैसा व्यवहार नही करता, वल्कि उसे भी भावनात्मक दृष्टि से ऊपर उठाने का प्रयास करता है। समता मे वर्ण-विपमता तो क्या—किसी भी प्रकार की विपमता मान्य नही होती।

उडीसा प्रान्त का एक प्रसग मुझे याद आता है। शायद वंगूमू डा गाँव था—मेरे पास एक भाई आया। उस रोज कोई देवी का त्यौहार था और वलि चढाई जाने को थी। गाँव मे अधिकाश हिंसक लोग थे। उस भाई ने मुझे कहा—महाराज! देखिये, ये लोग कितने पापी हैं—वलि चढाते है और मास खाते हैं। मैं तो ब्राह्मण हूँ, वकरा, मुर्गा, मछली कुछ नही खाता, सिर्फ कवूतर का मास खाता हूँ। मैंने आश्चर्य से कहा कि क्या ब्राह्मण जाति मे भी कवूतर का ही सही—मास खाना चलता है? राजस्थान मे तो इस दृष्टि से अधिक अच्छी स्थिति है। तो कहने का अभिप्राय यही है कि जो नीच काम करेगा, वह नीचा होगा। नीचा जाति या वर्ण से नही होगा।

गुणाधारित वर्गीकरण

जैन दर्शन मे मुख्यतः गुण का समादर किया जाता है। समता की भावना मे यही कारण है कि गुणो के आधार पर ही मानव समाज मे वर्गीकरण किया जाता है। कोई सत्य-भाषी है तो उसे सत्यवादियो की श्रेणी मे रखा जायगा। जो नीतिवान् और सदाचारी व्यापारी है, उसे सदाचारियो के वर्ग मे रखा जायगा। गुणाधारित वर्गीकरण का सबसे बडा लाभ यह होता है कि उससे मानव समाज मे गुणो को ग्रहण करने और उसके आधार पर प्रतिष्ठा पाने की सुन्दर स्पर्धा बन जाती है। हमारे यहाँ भगवान् महावीर के शासन मे तो सारा वर्गीकरण गुणो पर ही आधारित है। श्रावक वर्ग है जो वारह अणुव्रतो का पालन करे और उससे ऊपर साधु वर्ग है

जो पंच महाव्रत का पालन करता हुआ आत्म-विकास की उच्च सरणि मे रमण करता है। ग्यारह गुण-स्थानो का जो क्रम है, उसमे आत्म-गुण की दृष्टि से ही विकास की ऊपर-नीचे की सीढियाँ हैं। श्रेष्ठ उत्थान-दिशा का प्रारम्भ सम्यक् दृष्टि की सबसे नीचे की सीढी से होता है।

सम्यक् दृष्टिवान् वही हो सकता है जो श्रद्धापूर्वक सुदेव, सुगुरू और सुधर्म पर विश्वास रखता है, समतामय साधना के प्रति सच्ची निष्ठा बरतता है तथा सारे विश्व के समस्त प्राणियो को समभाव की दृष्टि से देखता है। किसी भी जाति, लिंग या वर्ण का व्यक्ति हो—यदि वह इस निष्ठा के साथ अपने जीवन मे चले तथा गुण एव कर्म पर आधारित श्रेणी को माने तो वह सच्चा सम्यक् दृष्टि कहला सकता है। गुणाधारित वर्गीकरण समता सिद्धान्त का प्रधान अग है। महावीर स्वामी क्षत्रिय थे, गौतम स्वामी ब्राह्मण और सेठ सुदर्शन वैश्य थे तो हरिकेशी मुनि चाडाल—किन्तु सभी समतादर्शी थे और आत्मिक श्रेष्ठता से सभी साथ थे।

वर्तमान मे भी मालवा प्रदेश मे बलाई जाति के लोग मास, मदिरा, हिंसा आदि का त्याग करके सम्यकत्व की श्रद्धा की तरफ आगे बढ रहे हैं तो उनका जो गुणाधारित वर्ग बनाया गया है, उसका नामकरण 'धर्मपाल' किया गया है। खटीक जाति के शुद्धिकरण के आधार पर वीरवाल वर्ग भी बना है। एक मुसलमान है और यदि वह भी समता और सम्यक्त्व की दृष्टि से चलता है तो हम उसका वर्गीकरण गुण पर ही करेंगे। दिल्ली मे एक मुसलमान भाई श्रावक बना हुआ है। स्वय 'जैन' शब्द भी गुणवाचक है, किसी वर्ग-विशेष का प्रतीक नही है।

बाह्य से आभ्यन्तर की ओर

मैं आपसे तपस्या के सम्बन्ध मे कह रहा था। इस तप के भी १२ भेद बताये गये हैं जिनमे आधे बाह्य तप के भेद हैं और बाकी आधे आभ्यन्तर तप के। आहार त्याग की तपस्या तो बाह्य तप मे ही मानी गई है किन्तु आभ्यन्तर तप मे इन्द्रिय-दमन, कषाय त्याग, आत्म-नियन्त्रण आदि भावनात्मक पहलुओ के परिवर्तन पर बल दिया गया है। तपाराधन के महत्व को भी इसी क्रम मे आका गया है कि बाह्य से आभ्यन्तर की ओर गति की जाय। इस प्रकार का तप करने से आत्मा उज्ज्वल बनती है।

जो प्राण को नही समझते और लाश को पकड कर समझते हैं कि उन्होंने तत्त्व के मूल को पकड लिया है, ऐसे लोग ही समताहीन तपाराधन को महत्व दे सकते हैं। शास्त्रकारो ने ऐसे एक प्रसग का उल्लेख किया है। एक शिष्य अति तपस्या करके अपने शरीर को कृश बना लेता है तथा सोचता है कि अब जीवन चलेगा नही, अत सथारा पच्चख लूँ। वह अपने गुरु के पास पहुँचा और अविनीत स्वर मे बोला

कि मुझे संथार पच्छखा दें। गुरु ने देखा कि उसका शरीर जरूर कृश हो गया है, किन्तु अन्तर मे तप का अश मात्र भी नही उतरा है। विनयहीनता का उत्तर गुरु ने कोमल शब्दो मे दिया और कहा कि अभी उसे और तप करने की जरूरत है। इस बात से तो शिष्य और अधिक उत्तेजित हो गया और कहने लगा—क्या आपको मेरी कठोर तपस्या दीखती नही है ? फिर भी मैं दिखा दूँगा कि मै कितनी कठोरतम तपस्या कर सकता हूँ। यह कहकर शिष्य पुनः तपस्या करने चला गया। कुछ दिन बाद वह फिर आया तब भी गुरु ने और तप करने का ही निर्देश दिया। तब तो शिष्य आग-बबूला ही हो उठा और उसने हाथ की अंगुली तोडकर बताई कि शरीर मे खून की बूँद तक नही रही है और आप फिर और तप करने का निर्देश दे रहे हैं।

तब गुरु ने शान्त भाव से उसे समझाया—तप का प्रमाण कृश शरीर ही नही होता। उसका असल प्रमाण तो होती है आन्तरिक वृत्तियो की आर्जवता और मृदुता। समता, नम्रता और गम्भीरता की वृत्तियो को अपनाने की बजाय यदि तुम अब भी विषमता के पुतले बने हुए हो तो तुम्हारे तप की क्या सार्थकता है ? वह कैसा तप, जिससे आभ्यन्तर पिघल कर ढले ही नही ? शिष्य ने इसे महसूस किया और तब उसने आभ्यन्तर तप मे अपने आपको समता भाव के साथ लगाया। उसके बाद गुरु ने कठोरतापूर्वक उसकी बार-बार कडी परीक्षा ली और जब उसका समता भाव अति पुष्ट बन गया तब गुरु ने हर्षपूर्वक कहा—अब तुम्हारा तप पूर्ण बन गया है। समता-दृष्टि का इतना व्यापक महत्व होता है।

इन्द्रिय दमन की पचरंगियाँ

वीतराग भगवान् ने बाह्य के साथ आभ्यन्तर तप का भी विधान किया है, उसके अनुसार बाह्य तप के साथ-साथ आभ्यन्तर तप का आराधन भी किया जाय और जीवन की सच्ची साधना की जाय तो आत्मा के निर्मल बनने मे अधिक कठिनाई नही आएगी। अनशन की तपस्या बहिनो मे तो काफी है किन्तु भाइयो मे कम है। सन्तो ने उपालम्भ दिया है कि पचरगी नही हो रही है। कदाचित् मेरे कहने का प्रसग आ जाय तो मै कहूँगा कि आप उपवास, बेले, तेले भी अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य करें लेकिन क्रोध, मान, माया, लोभ नही करने की पचरगी करेंगे—विषय-विकारो को छोडकर इन्द्रिय-दमन की पचरगी बल्कि सतरगी करेगे तो मेरी मान्यता मे वह आत्मा के कर्म-मल को धोने मे अधिक सहायक बनेगी। तब तप करके व्यापार भी देखने की अशान्ति नही होगी तो क्रोधादि करके दूसरो को भी अशान्त नही बनाएँगे। तप की श्रेष्ठता भी विकार-दमन की पचरगियो मे ही प्रकट होगी।

कमलसेन . समता के धरातल पर

ममता के धरातल पर आरूढ कमलसेन ने जंगल मे उसके सामने आई विकट परिस्थिति का शान्त भाव से मुकाबिला किया। देव ने भी अपना रूप दिखाकर

राजकुमार की परीक्षा लेनी चाही किन्तु उसे अपनी लीला समेटनी पडी क्योकि कमलसेन ने सम-मार्ग पर चलने का निश्चय किया। देव ने अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा की किन्तु समताधारी कमलसेन ने अपने धैर्य को नही छोडा। परीक्षा की घडियो मे अपनी अन्तर की शक्ति को सजग बनाकर खरा उतरना सरल कार्य नही है—यह तलवार से भी तीक्ष्ण धार पर चलना है। साधु को बडे-बडे लाग नमस्कार करते हैं—क्या उसके पीछे यही भाव नही है कि साधु समता दर्शन के प्रकाश-स्तम्भ बनकर अपने सयमी जीवन को चलाते हैं? यदि साधु मे इससे अभिमान आ जाय और समता का धरातल टूट जाय तो फिर क्या वह वन्दनीय रहेगा?

कमलसेन के परीक्षा मे खरे उतरने पर जब देव उनका जय-जयकार करने लगा तब भी उसकी समता की समरसता टूटी नही। देव ने उसके सामने उपस्थित होकर विनयपूर्वक कहा—राजकुमार! तुम्हारा जीवन धन्य है, क्योकि तुम अपने ध्येय पर अटल रहे। मैंने तुम्हारी परीक्षा इसलिये ली कि तुम्हारे धैर्य के बारे मे की जाने जाने वाली प्रशसा सच्ची है अथवा नही। मैं अग देश के चम्पक नगर का अधिष्ठाता देव हूँ और तुम्हारे लिये आशीर्वाद देता हूँ कि तुम वहाँ का भी राज्य चलाओ। इतना कहकर देव अन्तर्धान हो गया, पर कमलसेन ने अपने ही समता-मार्ग पर चलने का निश्चय किया। चलते-चलते वह एक सरोवर के समीप पहुँचा जिसकी सम्पन्न शोभा को देखकर उसने अनुमान किया कि पास मे ही कोई बडा नगर होना चाहिये। कमल-पक्ति की शोभा से आकर्षित होकर विश्राम करने कमलसेन वही सरोवर की पाल पर बैठ गया। उसी समय एक घुडसवार दौडता हुआ उसके सामने घोडे से उतर कर कहता है कि आप इस घोडे पर बैठकर चलिये।

कमलसेन सोचता है कि यह कौन है, कहाँ ले जाना चाहता है—इसका पता लगाये बिना चलना बुद्धिमानी नही होगी। कमलसेन क्या करता है—यह फिर प्रकट होगा, किन्तु क्या आपको भी ऐसा बुद्धिमान नही होना चाहिये कि जो कुछ कार्य आप करते है उनके सम्बन्ध मे पहले विचार और निर्णय किया जाय कि उनका जीवन-निर्माण पर क्या असर पडेगा? यदि ऐसा गहराई से सोचकर किया जाय तो यह आवश्यक होगा कि आप अपने जीवन मे समता के धरातल का निर्माण करें। अपने आत्म-विकास की आधारशिला अगर आपने ज्ञान और विवेक से समता दर्शन पर प्रतिष्ठित की तो ऋषभदेव को अपना पति अवश्य ही बना सकेंगे।

लाल भवन
१९-८-७२



हैं। वैसे सृष्टि मे छ तत्त्व माने गये हैं—उनका सामान्य सम्वन्ध है, उस दृष्टि से ईश्वर का सम्बन्ध है। परन्तु आत्मा की जागृति की दृष्टि से वह भव्य स्वरूप आदर्श रूप मे जब प्रकाशित होता है तो भवि आत्मा की विकास भावना उमड उठती है एवं वह अपने जीवन को प्रभु के तुल्य बनाने का संकल्प कर लेती है। भावो की अभिव्यक्ति मे इसीलिए भक्ति अहकार-रहित विनम्रता को धारण कर लेती है। भक्त परमात्मा को स्वामी की दृष्टि से देखता है। किन्तु यहाँ यह विचारणीय तथ्य है कि स्वामी की दृष्टि से देखने का अर्थ क्या है? स्वामी का अर्थ यह नही है कि भगवान् तो सदा भगवान् ही रहेगा और सेवक सेवक ही। जो स्वामी-सेवक के सम्बन्ध मे ऐसी कल्पना करते है, वह कल्पना अज्ञानजन्य ही मानी जायगी।

परमात्मा के तुल्य बनने का सकल्प

ज्ञानीजन का इस भक्ति के विषय मे अभिप्राय यही रहता है कि—"मैं भी परमात्मा के तुल्य परिपूर्ण शक्ति अपने अन्दर रखता हूँ और मैं एक दिन परमात्मा के तुल्य बन भी सकता हूँ।" ऐसी भावना रखकर एवं निराभिमानी बनकर जब मानव साधना की अवस्था मे प्रविष्ट होता है तब वह स्वामी के आदर्श स्वरूप का अनुगामी वनकर स्वय आत्मस्वामित्व ग्रहण करने का सकल्प भी लेता है। इस साधना की स्थिति के भी अलग-अलग रूपक आते है। समता के अनुभाव के साथ जीवन की परिभाषा को समझने वाला साधक समस्त परिभाषाओ को उसी के व्यापक रूप मे देखता है। इस अवलोकन से वह सारे वस्तु स्वरूप के गुण-दोषो पर तटस्थ वृत्ति से चिन्तन करता है और उनके बीच अपने प्रगति पथ को प्रशस्त बनाता है। इसे एक रूप से परिमात्मा की भक्ति कहे, किन्तु वास्तव मे वह स्वय की आत्मा की साधना ही होती है।

साधक अपनी साधना की दिशा मे अपनी मौलिक बुद्धि एवं तुलनात्मक दृष्टि से यह सोचता और देखता है कि भिन्न-भिन्न मान्यताएँ साधन के किस-किस स्वरूप का वर्णन करती हैं और इन सब मे कौन-सा स्वरूप आदरणीय एव अनुकरणीय है। जो साधना का स्वरूप जीवन निर्माण की दिशा मे आत्मा को अनुप्रेरित करे, उसकी तथा उन स्वरूपो की पहिचान करना जरूरी है—जो साधना के नाम पर जीवन को भूल-भुलैया मे डाल देने वाले होते है। इस पहिचान और परख के लिए वुद्धि का द्वार खुला रखकर चिन्तन करने की आवश्यकता होती है। इसी चिन्तन को सच्ची प्रार्थना से सम्वल मिलता है।

सृष्टि-कर्त्तव्य की भ्रमपूर्ण विचारणा

प्रभु की भक्ति के सम्वन्ध मे एक भ्रमपूर्ण विचारणा भी मिलती है जिसे समझ लेना चाहिए। कई लोगो की मान्यता होती है कि जो कुछ करेगा—भगवान् ही

करेगा, उसकी इच्छा के बिना तो एक पत्ता भी नही हिलता। यह मान्यता साधक को निरुत्साहित करती है, क्योंकि जब भगवान् की ही इच्छा चलेगी तो फिर साधक के लिये करने के लिये रह ही क्या जायेगा ? इससे वह निष्क्रिय भी होगा तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हीन-मान्यता के भावो से भी ग्रस्त हो जायगा। इसलिए भक्ति का ऐसा रूप आत्म-विकास के विपरीत पडता है। सच्ची भक्ति से तो कर्मण्यता की प्रेरणा मिलनी चाहिये। इस कारण जो विवेकशील साधक होते हैं, वे भक्ति का सही अर्थान्वय करते हुए आन्तरिक तत्त्व का गहन चिन्तन करते हैं। ऋषभदेव प्रभु की प्रार्थना मे ही कहा है—

"काहे करे रे लीला अलख तनिक लख पूरे ' "

अर्थात् प्रभु की लीला अलख यानी अदृश्य है। इसका अर्थ होगा कि प्रभु के स्वरूप का साधक पर जो आदर्श प्रभाव पडता है वह इतना अलक्ष्य होता है कि जब तक गहरी ज्ञान-दृष्टि से उसे न समझा जाय तथा उसके प्रकाश मे साधना को पुष्ट न किया जाय तो प्रार्थना की वास्तविक उपलब्धि प्राप्त नही हो सकेगी।

भगवान् के आश्रय से यदि पुरुषार्थ हीनता आए तो उस आश्रय को उन्नति-प्रदायक कैसे कहेगे ? एक बच्चा अपने बचपन की स्थिति मे चलता हुआ निश्चिन्त ही बना रहे कि—पिता जी करने वाले है, मुझे क्या चिन्ता ? वह बचपन के बाद भी इसी तरह चले तब क्या उसका पुरुषार्थ क्रियाहीन नही हो जायेगा ? किन्तु जो कर्मण्य बच्चे होते हैं, वे यथासमय अपने पैरो पर खडे होने का प्रयास करते है और अपने पैरो पर खडे होने वाले ही पुरुषार्थी एव पराक्रमशील बनते हैं। अगर मानव उस बचपन जैसी स्थिति मे चले और यह सोचे कि अपने जीवन को परमात्मा के नाम-स्मरण मात्र मे लगा देने से सदा उद्धार हो जायेगा तो ठेठ तक उसकी बचपन जैसी स्थिति ही बनी रह जायेगी। जीवन के कण-कण मे पुरुषार्थ समा जाय—यही प्रार्थना अथवा प्रभु-भक्ति की मूल प्रेरणा फूटनी चाहिए एव कर्मण्य शक्ति उभरनी चाहिये।

प्रत्येक विवेकशील मानव को सोचना है कि मेरे अपने जीवन-निर्माण का समस्त उत्तरदायित्व मेरे अपने ऊपर है और प्रभु के स्वरूप की प्रेरणा मे जितना अधिक मेरा पुरुषार्थ जगेगा, चरम विकास की ओर उतने ही अधिक त्वरितगामी मेरे चरण बन सकेंगे। इस प्रकार की भावना से आत्मबल बढ़ेगा और हीन मान्यता कदापि पैदा नहीं होगी। ईश्वर की अन्तर मे प्रतिष्ठा सहायक शक्ति के रूप मे ढल कर मानव जीवन मे बल, ऊर्जा एव आत्मविश्वास को प्रखर बना देती है।

मैं आपके सामने भगवान् और इन्सान की इस प्रकार की भावना को जोडते हुए इस सत्य पर बल देना चाहता हूं कि ऐसे जागरूक जीवन की समग्र परिभाषा को यदि सक्षेप मे ढूंढना चाहते हैं तो उसे समता सिद्धान्त की परिभाषा मे खोजना होगा। भगवान् और इन्सान की स्वरूप-समता पहली वास्तविकता है। एक आत्मा

कर्म-मैल को पूर्णतया धोकर निर्मल बन चुकी है तो दूसरी कर्म-मैल से सलग्न है, वरना ज्ञान एव चेतनामय स्वभाव दोनो का ही होता है । एक सूर्य प्रकाशमान दीख रहा है तो दूसरे को प्रकाशित होते हुए देखने के लिये वादलो के हटने की प्रतीक्षा करनी होगी । समता की भावना के संस्पर्श से मैल धुल जाता है और वादल छँट जाते है । इस आत्मा को निर्मल एव प्रकाशमान बनाने मे सशक्त साधन के रूप मे समता की भावना ली जा सकती है ।

समता का दार्शनिक दृष्टिकोण

समता का यह सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टिकोण से क्या है ? दो विपरीत अर्थ-वाहक शब्द हैं—सम और विपम । सम याने समान, शान्तिकारक एव समृद्धिसूचक और विपम इससे विपरीत—असमान, अशान्तिकारक एव समृद्धिहीन । सम और विषम स्थितियाँ बाह्य और आन्तिरिक—दोनो रूप से होती हैं । बाह्य समता के लिये साम्य-वाद, समाजवाद आदि कई राजनैतिक व आर्थिक विचारधाराएँ हैं, तो आन्तरिक समता की प्राप्ति सारी दार्शनिक एव आध्यात्मिक विचारधाराओ का सर्वोच्च लक्ष्य है । विषमता वाहर हो या अन्दर—सन्ताप को जन्म देती है और यह सन्ताप मानव को हताशा एव पतन की ओर धकेलता है । समता की एक दार्शनिक परिभाषा है—

"सम्यक् निर्णायक सतत जीवनम्"

छोटी-सी व्याख्या है किन्तु गम्भीरता से भरी-पूरी है, जिस पर पहले थोडी-बहुत रोशनी डाली जा चुकी है । समता की भावना से समता की दृष्टि उत्पन्न होती है और जब वह दृष्टि जीवन के प्रत्येक क्षण मे सजग बनती है तो इन्सान का भगवान के साथ समता का सूत्र जुडने लगता है । समता का सूत्र जब जुडता है तो स्वरूप-विपमता का कटना स्वाभाविक ही है । विपम से सम की ओर गतिशील होना ही प्रगति का मूलमंत्र है ।

सम स्थिति के विचार एव अनुभव के साथ यह आत्मानुभूति जाग्रत होगी कि मैं क्यो अपने आप को दु.खो की भट्टी मे तापतप्त बना रहा हूँ—क्यो हीन भावना मे वहकर हताशाग्रस्त हो रहा हूँ और क्यो अपने उत्थान और पतन मे आत्म-विस्मृति के गर्त मे गिर रहा हूँ ? यह मनन मनोवल को केन्द्रित करेगा, जिसकी कोख से पुरुषार्थ का जन्म होगा । सासारिक जीवन मे आप देखते हैं कि आर्थिक आदि समस्याओ के समाधान के लिये वर्षो के परिश्रम से विविध उपाधियाँ प्राप्त की जाती हैं । कौन जाने कि उनसे भौतिक जीवन की मूल आवश्यकताओ की भी पूर्ति हो पाती है अथवा नही, किन्तु आत्मिक विकास को सम्पादित करने के लिए न तो किसी नियमित शिक्षा की ओर सोचा जाता है और न तदनुकूल वातावरण निर्माण की ओर । इसके अभाव मे आज के मानव की मनौवैज्ञानिक अवस्था ऐसी लगती है कि

वह नीद मे है। अब नीद भी कई तरह की होती है—एक जाग्रत निद्रा अर्थात् जिसमे शरीर श्रम को हटाए किन्तु फिर भी पाँचो इन्द्रियाँ कार्यरत रहे। यह ज्ञानी जनो की चेतना की निद्रा होती है। दूसरी, अर्धनिद्रित अवस्था होती है, जिसमे न तो ससार के पदार्थों को पूर्ण रूप से जाना जाता है और न अन्तर के तत्त्वो की ही पकड होती है। तन्द्रा मे सुषुप्त होने पर उसके लिए अन्तर अज्ञात ही रहता है। उसके बाद एक स्तर और आता है जिसमे इन्सान बाहर से सोया हुआ लगता है किन्तु वह अन्तर से अपने नवीन सस्कारो का दर्शन एव दिव्य आनन्द की अनुभूति करता है। यह आनन्द की अनुभूति ज्ञानी जनो की चेतन-निद्रा मे सब ओर घुली-मिली रहती है—ऊपर से भी और अन्तर मे भी।

अन्तर्जागृति की इस अवस्था से ही आत्म-शक्ति का भान होता है जो निर्माण-कारी पुरुषार्थ को बलवान बनाता है। तब वह चेतन-निद्रा अन्तर-बाह्य की चेतन-जागृति का रूप ले लेती है। उस समय मानव अपनी आन्तरिक चेतना-शक्ति के बल पर विकास के दृढ संकल्प पर आरुढ होता है। इच्छा-शक्ति की सुदृढता के आधार पर वह अपने भाग्य का स्वय ही निर्माता बन जाता है। पूर्व-जन्मो के सचित कर्म-मैल को काटते हुए वह अपने अन्तर को संयम आदि से इस प्रकार नियत्रित कर लेता है कि भावी भाग्य उसका दास बन जाता है।

एक दृष्टि—युवको व छात्रो पर

एक दृष्टि यदि इस रूप मे आज के युवको तथा छात्रो के क्रिया-कलापो पर डाली जाय तो लगता है कि वे इस अन्तर्जागृति की कला से अधिकाशत अनभिज्ञ हैं। इसका कारण है कि ऐसी शिक्षा उन्हे नही मिलती तथा समाज का वैसा वातावरण नही है। वर्तमान मे जो एक नीद की अवस्था है जिसके अन्दर जो जाग रहा है या ससार के पदार्थों को देख रहा है या स्वच्छन्द होकर विचरण कर रहा है—सभी जैसे हकीकत मे नीद मे है। नीद का अर्थ है चेतना का तदनुसार अभाव। चेतना जब शिथिल होती है तो नैतिकता का धरातल नही बनता, जिसके अस्तित्व मे न आने पर जीवन की विकास दिशा सुनिश्चित नही बनती। निश्चितता के नही बनने पर मन चचल रहेगा और बेकाबू मन जिन्दगी मे हमेशा खतरे की घण्टी बना रहता है।

इस प्रसग मे एक छोटी-सी कथा याद आ गई। प्राचीन काल मे एक सम्राट् ने सोचा कि मैं सारी दुनिया को लूट कर सारी सम्पत्ति को एक मजबूत किले मे सुरक्षित बना दूँ। किला ऐसा बनाऊँ कि उसका सिर्फ एक ही दरवाजा हो, जिसमे कोई आसानी से घुस नही सके। तब उसने ऐसा एक दरवाजे वाला मजबूत किला बनाया और उसमे अपनी सारी सम्पत्ति एव सन्तति को सुरक्षित कर दिया। सभी उसकी प्रशसा करने लगे किन्तु एक गरीब वृद्ध उस पर हँसने लगा। इसके लिए धमकाने

पर उसने सम्राट् से फक्कडपन-मे कहा—राजन ! मैं तो तुम्हारी वुद्धि पर तरस खा रहा हूँ। तेरा मन जब इतना चचल है तो यह दरवाजा भी तेरे लिए घातक है। राजा को अपने अज्ञान का भान हुआ, किन्तु क्या आप भी अपने आप को वाहरी दीवारो से सुरक्षित मानते है अथवा आन्तरिक शक्ति को जगाकर अटल सुरक्षा पाने का आपका लक्ष्य है ? मेरा कहना है कि वाहर की दीवारो को वनाने मे आप अपनी शक्ति का जो अपव्यय कर रहे है, उसे अन्तर की शक्ति को खोजने और प्रकटाने मे लगाएँ। आज के बुद्धिवादी वर्ग को इस दिशा मे गम्भीरतापूर्वक सोचना एव अपनी शक्ति को सुनियोजित करना चाहिए। भौतिक साधनो की प्राप्ति के लिए न जाने क्या-क्या किया जाता है—यह भूलकर कि उस मनोवृत्ति का आन्तरिक स्वास्थ्य पर कैसा कुप्रभाव पडेगा ?

विचार—नियंत्रित, नियमित व संयमित हो

मानव जीवन की सच्ची सुरक्षा करनी है तो जीवन के स्वरूप को हृदयगम करना होगा। विकास को एक निश्चित दिशा देनी होगी ताकि साधना मे चचलता की जगह स्थिरता की स्थापना हो। विचार, नियन्त्रित, नियमित एव संयमित वनें, जो स्वय के निर्माण के गभीर उत्तरदायित्व को महसूस करें। आप अपने इ जीनियर स्वय वने। निर्माण और स्वच्छ निर्माण आपका दिशा-संकेत हो। भगवान् से इन्सान की ऐसी लौ लगे कि दिये से दिया जल उठे और वह प्रकाश ज्ञानमय चेतना का तरल प्रकाश बन जाय। इस दिशा मे जब मानव की संकल्प-शक्ति सुदृढ़ बन जाती है, तभी वह आस्था एव निष्ठा के साथ अपने विचार तथा आचार मे पूर्णतया समता सिद्धान्त पर आरूढ हो सकता है।

आप आश्चर्य न करें, समता सिद्धान्त का आचरण अपना फल वर्तमान जीवन मे ही दे सकता है। उसका फल देखना है तो पहले यह सोचें कि आपने अपने सकल्प रूपी वृक्ष की दशा कैसी वना रखी है ? अगर वृक्ष जड से मजबूत और शाखा-उप-शाखाओ से हरा-भरा है तो उस पर फल अवश्य लगेंगे। अन्तर की भावनात्मक स्थिति डाँवाडोल हो और आप वाहर की स्थिति मे अच्छे फल की आशा करें—यह स्वाभाविक कैसे कहा जा सकता है ? मन अचचल और आत्म-विश्वास अडिग हो तो बाहर की सतह भी स्थिर और शान्त हो जायगी। एक मानसिक रोगी जैसे विना किसी दृश्य रोग की पीडा से ग्रस्त वना रहता है, ठीक इसके विपरीत वह स्वस्थ मन से रोगो को नष्ट भी कर सकता है। मन का ऐसा सुस्वास्थ्य निरन्तर सुदृढ होने वाली सकल्प शक्ति के आधार पर ही बना रह सकता है। कमजोर मन वाले पचास की आयु पर पहुँचते-पहुँचते अपने को वूढा और साठ तक मृत्यु के एकदम समीप मानकर चिन्तत होते रहते हैं। वे इस भावना के साथ हकीकत मे न भी मरें, लेकिन जिन्दा रहते हुए भी हकीकत मे वे मरे जैसे हो जाते हैं। मैं जो कुछ कह रहा हूँ—इसके

पीछे आत्म-वल है, अनुभूति है और आन्तरिक शक्ति का प्रवाह है। मैं इन्ही तत्त्वो की तरफ आपके जीवन की स्थिति को भी उन्मुख करना चाहता हूं।

सुस्थिर, संयमित एव शान्त मन जीवन के वास्तविक स्वास्थ्य का जनक होता है तो दुर्वल मन से जीवन कितना क्षत-विक्षत हो सकता है—कई वक्त उसकी कोई सीमा नही रहती। मन की क्लान्ति कुछ क्षणो मे ही मनुष्य को मृत्यु शैय्या पर पहुंचा सकती है तो स्फूर्ति का एक झोंका उसे नवजीवन प्रदान कर सकता है। ऐसी कई घटनाएं मनोविज्ञान के ग्रन्थो मे आपको पढने को मिल सकती हैं जो अपने आप मे अति आश्चर्यजनक सी प्रतीत होती हैं। अचेतन मष्तिष्क मे जो एक कुसस्कार जम गया तो वही मानसिक रोग का रूप ले लेता है। यह रोग सवसे पहला वार मनोवल पर करता है और वहाँ सफल होने पर मानव जीवन की चेतना खोने मे यह आगे फैलता ही जाता है।

मनोवल वनता है और बढता है दृष्टि को अन्तर्मुखी वनाने से। अन्तर के अवलोकन से अन्तर की इच्छा शक्ति सशक्त वनेगी। जव इस शक्ति की वहार चलती है तो आन्तरिक जीवन खिल उठता है और अगर वह शक्ति वढती चली गई—ससार की वासनाओ मे स्खलित नही हुई तो विकास की उच्चतम श्रेणियो मे भगवान् और इन्सान का भेद ही मिट जाता है। सारी शक्ति भावना के सम्यक् निर्माण मे समाई हुई है जो समता की साधना से पुष्ट होती है। वास्तविक स्थिति को शक्ति देने के लिये मैं इस रूप मे जीवन की परिभाषा रख रहा हूं जिसे उस क्षेत्र मे वतला रहा हूं कि मनुष्य के मन मे मैल-रोग और शत्रु कैसे प्रवेश करते हैं, उनके पीछे वाहरी निमित्त क्या वनता है? वाहरी निमित्त और सव साधन अपने सामने रखकर चलें तो आप इस वर्तमान जीवन को ठीक तरह से समझ सकेंगे।

समाज मे समता की दिशा

समता दर्शन की दृष्टि से, मस्तिष्क को स्वस्थ दिशा मे प्रशिक्षित करने की दृष्टि से तथा मनोवल को मजवूत वनाने की दृष्टि से मैं एक रूपक रख रहा हूं। कुछ रूपक मैंने पहले वताये हैं और आगे की वात सामने है। समस्त जीवनोपयोगी पदार्थ यदि समान रूप से सवके उपयोग मे आ सके तो समाज मे एक स्वास्थ्यकर वातावरण वनेगा जिसकी पृष्ठभूमि पर प्रत्येक मानव मे निर्लोभी एव अपरिग्रही भावना का विकास होकर अपने जीवन को अग्रगामी एव उर्ध्वगामी वनाने की चेतना परिपुष्ट होगी। इसके विपरीत सम्पत्ति का अनुचित सग्रह करने, भोग्य पदार्थों को वटोर-वटोर कर ममत्व वढाने एव वन्द किले मे सुरक्षित वने रहने की भ्रान्ति मे डूवे रहने से जीवन के अन्दर कमजोरी आती है और मानसिक रोग भयकर वनकर स्वास्थ्य का सत्यानाश कर देते हैं।

आन्तरिक शक्ति के निर्माण मे त्याग का विशिष्ट महत्व होता है। आप पदार्थों का त्याग करें किन्तु पदार्थों के ममत्त्व का भी त्याग करे—वह आपको बाहरी प्रलोभनो से मुक्त करके महती आन्तरिक शक्ति प्रदान करता है। त्याग एवं ममत्त्व के अन्तर का एक दृष्टान्त देखिये। एक करोडपति सेठ सारी सुख-सुविधाओ के बीच भी दिन-ब-दिन मुर्झाता चला जा रहा है, वहाँ उसका एक पडोसी मजदूर जो कमाता है, मस्ती से खाता है और गाता है व खिलता है। सेठानी हैरान है दोनो को देख-कर और सोचती है कि कैसे वह अपने पति को भी मजदूर जैसा मस्त बना दे। उसे लगा कि आन्तरिक्त शक्ति के गठन से ही मनुष्य अन्दर बाहर से स्वस्थ रह सकता है। यदि यह शक्ति जगी नही है तो बाहर के सारे सुखकर पदार्थ भी उसे सुखी नही बना सकते हैं। सेठानी ने एक दिन यह चर्चा सेठ जी के साथ छोडी तो उन्होने बताया कि सब चीजो मे—मूल मे यदि कमजोरी है तो सारी बाहरी शक्तियाँ भी उसे स्वस्थ नही बना सकती हैं। बाद मे सेठ जी ने उसका प्रयोग करके सेठानी को सम-झाया। उन्होने एक थैली मे निन्यान्वे रुपये भरवा कर तरकीब से मजदूर पडौसी की झोंपडी मे डलवा दिये। सेठजी ने मजदूर की मस्ती के मूल पर चोट की। वह निन्यान्वे के फेर मे पड गया और कुछ ही दिनो मे अपनी मस्ती को खो बैठा।

मन की दुर्बलता काटिये

मूल मे मन की दुर्बलता तभी काटी जा सकती है जब भगवान् के आदर्श स्वरूप के प्रकाश मे स्वस्थ मनोबल एव कर्मठ सकल्प शक्ति का निर्माण किया जाय। मूल जब मजबूत बन जाता है तो फिर बाहर के धक्के उसका कुछ भी नही बिगाड सकते हैं। समता की शक्ति उसकी सशक्त ढाल बन सकती है क्योकि जग्रत अन्त-चेतना उस इन्सान को भगवान् के समकक्ष बनाने की दिशा मे निरन्तर अग्रसर बनाती रहती है। भगवान् श्री ऋषभदेव की प्रार्थना आपको सदैव के लिये भक्त ही बनाये नही रखेगी, अपितु एक दिन स्वय भगवान् ऋषभदेव के समान परम पावन स्वरूप आपकी आत्मा को भी प्रदान कर देगी।

मेरा आग्रह इसलिये है कि जीवन को मूल से सशोधित करें, विकास के नवीन अर्थों का अनुसधान करें एवं जीवन की वास्तविक परिभाषा को आद्योपान्त समझकर जीवन मे दास वृत्ति से हटकर स्वयं स्वामी बनने का प्रयास करें। त्यागमय समता को उसका आधार बनाएं। यही भगवान् और इन्सान की अन्तिम समता का सही मार्ग है।

लाल भवन
२०-८-७२



निष्कपट पूजा का फल

"और न चाहूँ रे कन्त . "

प्रभु को स्वामी के रूप मे हृदय मे प्रतिष्ठित करके जव आत्मा निरन्तर प्राथना का आभ्यास करती है, सावना के विभिन्न क्रमो से गुजरती है और अपने स्वरूप का प्रक्षालन एव परिमार्जन करती रहती है तो वह स्वय स्वामी वनने की दिशा मे ही अग्रसर होती है। भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना की अन्तिम पक्तियाँ यही सन्देश दे रही हैं कि यदि आप भगवान् को स्वामी वनाना चाहते है तो उनका साक्षात्कार आत्म शक्ति के प्रकाशत मार्ग से ही सभव वन सकेगा। सच तो यह है कि अपने ही निखालिस आत्म स्वरूप को आप ऋषभदेव समझिये और भगवान् ऋषभदेव की पूजा इसी दृष्टि से कीजिये कि एक दिन आप स्वयं भी ऋषभदेव वन जायँ। आदर्श स्वरूप को स्वामी वनाओ और स्वय भी शुद्ध स्वरूपी वनकर स्वामी हो जाओ— यही आत्म-विकास का स्वस्थ क्रम होता है।

यहाँ भगवान् की पूजा के वास्तविक तात्पर्य को समझना आवश्यक है। पूजा की भिन्न-भिन्न विधियाँ भिन्न-भिन्न लोग वताते और आजमाते हैं, किन्तु सफल विधि वही है जो आन्तरिक जीवन की शक्ति को विकसित करती है। भगवान् की पूजा मे भी यही लक्ष्य विन्दु होना चाहिये। वाहरी पदार्थो से और वाहरी आडम्वर से प्रभु की पूजा नही होती। जो जिसके योग्य हो वही पूजा की सामग्री उनके लिये होनी चाहिये। घर मे भी कोई अतिथि आए तो उनके योग्य उनका सम्मान किया जाता है। अयोग्य रीति से सम्मान नही, वल्कि अपमान ही होता है।

भगवान् की पूजा व सत्कार कैसे ?

भगवान् की पूजा और उनका सत्कार कैसे हो ? भगवान् यदि भोजन करते हो तो उन्हे भोजन कराया जा सकता है। वे अन्य पदार्थ ग्रहण करते हो तो उन पदार्थो से उनका अर्चन, पूजन किया जा सकता है, किन्तु सभी जानते हैं और सारा ससार अनुभव करता है कि भगवान् का सिद्ध एवं शुद्ध स्वरूप निरंजन, निर्लिप्त एवं

निराकार होता है। उनको आपके भोग, भोजन, वस्त्र, अलंकार या सुगन्धित द्रव्यो की आवश्यकता नही होती। ससार मे जितने भी पदार्थ हैं, वे सबके सब भगवान् के लिये सर्वथा अयोग्य हैं। परमात्मा जो बने है, वे मानव शरीर मे आबद्ध मलिन आत्मा की स्वरूप-शुद्धि से ही बने हैं। यह ससारी जीव ही जीवन की सर्वोच्चता तक पहुंचकर सिद्ध स्वरूप धारण करता है।

तो भगवान् भी जब शरीरधारी रहकर अपने परिवार व गृहस्थी मे रहे होंगे तब भोजन भी करते होगे और वस्त्रालकार भी धारण करते होगे। वे राजकुमार या सम्राट रहे होगे तो फूल मालाओ का सत्कार भी उन्होने ग्रहण किया होगा। परन्तु जब दीक्षित हो गये होगे तो उनके सत्कार का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया होगा। सासारिक वैभव का परित्याग करके पंच महाव्रत धारण करने वाले मुनि और मुनि-पद से विकास करके तीर्थंकर की श्रेणी मे पहुँचने वाले महापुरुष को कभी भी किसी गृहस्थी ने अपने गृहस्थ व्यवहार के अनुसार उनकी पूजा या उनका सत्कार किया हो—ऐसा कही भी कोई प्रसग नही है।

त्यागी साधु की पूजा नमस्कार से होती है। उनकी मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखकर योग्य रीति से ही उनका सत्कार-सम्मान किया जा सकता है। नियम भंग करके अगर साधु का सम्मान किया जायगा तो निश्चय ही वह साधुता का अप-मान होगा। सन्त जब आपके घर पर आए तो उन्हे अतिथि रूप मानकर आप उनका सत्कार कैसे करेगे ? क्या मोतियो के हार उनके गले मे पहिनाएँगे और उनके चरणो मे सचित्त पदार्थों का अर्घ्य चढ़ाएँगे ? सामान्य सा विवेक रखने वाला सद्गृहस्थ भी साधु की अगवानी मे ऐसा कुछ नही करेगा। जिन्होने सर्वस्व का त्याग कर साधु धर्म अंगीकार किया है, उन्हे भला सासारिक पदार्थों के प्रति कौन सा मोह है ? वे तो उन्हे थूक चुके हैं। क्या आपकी अयोग्य पूजा-विधि से वे अपने त्याग को खडित करें और जब त्याग खडित होता हो तो क्या आप उनका सत्य रूप से सत्कार करते हैं ? यह तो उनका खरेखर तिरस्कार होगा।

सामान्य रूप से आप जानते हैं कि साधु-सन्त आपके घर पर आते हैं तो आप सारे दोषो को टाल कर वही आहार उन्हे बहरा कर उनका सम्मान करते हैं जो उनके निमित्त से नही बना हो और जो किसी भी सचित्त पदार्थ से सस्पर्श नही करता हो। निर्दोष आहार ही उनके लिये ग्राह्य होता है। साधु-सन्तो के सत्कार का भी ऐसा निर्दोष स्वरूप होता है तो सिद्ध, शुद्ध एव प्रबुद्ध भगवान् के सत्कार एव उनकी पूजा की विधि बुद्धिहीनता से एव अविचार पूर्वक निर्धारित नही की जा सकती है।

कर्म एवं धर्म-क्षेत्रों को दिशादान

भगवान् ऋषभदेव युगलिया काल के बाद नवीन कर्मयुग के प्रवर्तक थे। कर्म और धर्म के दोनो क्षेत्रो का प्रारम्भ उन्होने ही किया। इस कारण प्रारम्भ मे उनके

सत्कार का कुछ ऐसा ही सिलसिला चला। मुनि धर्म ग्रहण करने के बाद जब वे कहीं पधारते तो भोले लोग उन्हें भेंट करने के लिये हाथी, घोडे, मणि, माणक और वस्त्राभूषण लेकर उपस्थित हो जाते। किन्तु कोई निर्दोष आहार बहराने मे नही समझता था। ऋषभदेव तीर्थकर जब कुछ भी ग्रहण नही करते और तपस्यारत रहते हुए मर्यादा धर्म का स्वरूप बताते तब लोगो की ज्ञान दशा उभरने लगी। आगे चलकर इक्षु रस के पारणे का भी उनका प्रसग बना। जब ऋषभदेव के सामने भी किसी प्रकार की हिंसा करके उनकी पूजा या उनके सत्कार की स्थिति नही थी तो अब जो सिद्ध अवस्था मे विराजमान हैं, कोई उनकी पूजा के लिये जल, फूल या अन्य सचित्त अथवा शृ गारिक पदार्थों का प्रयोग करने की बात कहे तो इसे उनका बालपन कहे अथवा अयोग्य पदार्थों से भगवद्स्वरूप को कलकित करने की कुत्सित भावना। साधु अवस्था से ही पूजा की जो निर्दोष परम्परा है, वही परम्परा अपने श्रेष्ठ रूप मे भगवान् की पूजा के साथ निभनी चाहिये।

कवि आनन्दघन जी ने अपनी प्रार्थना की भावपूर्ण पक्तियो मे स्पष्ट किया है कि दोषरहित पूजा-विधि से भगवान् के आत्मसम स्वरूप की पूजा करने के बाद भी यदि उसके साथ प्रसन्नता का अनुभव नही है तो वैसी अवस्था मे भी स्वरूप दर्शन का अवसर नही आता है। वे कहते हैं—

"चित्त प्रसन्ने रे पूजा फल कह्यु रे, पूजा अखडित एज"...। अर्थात् भगवान् की पूजा चित्त की सम्पूर्ण प्रसन्नता के साथ करें तभी पूजा का फल प्राप्त हो सकेगा। ऐसी ही पूजा अखण्डित पूजा होगी। चित्त मे प्रसन्नता—यही पूजन का फल है। प्रसन्नता यह कार्य उसके सामने है लेकिन उसका कारण भी बताया है। कारण उसके अन्दर दबा हुआ है। जिस कार्य से चित्त की प्रसन्नता स्वाभाविक रूप से बने—यह समझना चाहिये कि हृदय का वह आन्तरिक आनन्द ही पूजा का सच्चा फल होता है।

प्रश्न है कि चित्त की प्रसन्नता कब बनेगी ? एक पुरुष विकट स्थिति मे चल रहा है और उस विकट स्थिति मे भी वह बाधाओ को झेलता हुआ जब सत्य पथ पर चलता है तो उसके अन्तर्मन मे आनन्द की प्रकाश रेखा अवश्य चमकती है। इसके विपरीत यदि कोई झूठ या कपट का सहारा लेता है तो उसे प्रसन्नता तो नही ही मिलेगी किन्तु मन मे ग्लानि भी पैदा होगी। यह दूसरी बात है कि कोई इस आनन्द या ग्लानि को अनदेखी करके अपनी आत्मा का दमन करता रहता हो। किन्तु जो आत्मा की आवाज को सुनता है, वह अन्तर-आनन्द की झलक भी पाता है।

मनुष्य का बाहरी मन चाहे अच्छे या बुरे की पहिचान न कर सके, किन्तु उसका अन्तर्मन अवश्य ही प्रति क्षण हर अच्छे और हर बुरे की पहिचान करता है। तथा उसकी स्पष्ट प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। अगर एक व्यक्ति चोरी करता है। तो उसका चित्त प्रसन्न नही होता है। वह लालचवश बुराई करता है और लालच की

पूर्ति हो जाय तो शायद वह कुछ खुशी भी हासिल करले लेकिन वह प्रसन्नता प्रवंचना मात्र ही होगी, वास्तविक नही। वास्तविक प्रसन्नता तो अचौर्य्य व्रत की स्थिति में होगी। वैसे ही एक मनुष्य चल रहा है और चलते-चलते यदि उससे असावधानी से किसी जीव की हिंसा हो जाय तब भी उसके हृदय मे अप्रसन्नता ही पैदा होगी। अगर वह विवेकशील है तो उसके खिन्न मन से पश्चाताप का भाव ही प्रस्फुटित होगा। यह पश्चाताप ही उस अप्रन्नता को धोता है। इसलिए चित्त की प्रसन्नता की कसौटी स्वय चित्त ही है, जिसे चेतनाशील बनाने की आवश्यकता है।

निश्छल आत्मार्पण

चेतनाशील चित्त स्वरूप-दर्शन की ओर तभी सफलतापूर्वक आकर्षित हो सकता है जव वह निष्कपट बने। प्रार्थना की पक्ति इसी सत्य को उद्घाटित करती है—

"कपट रहित आतम अरपणा दे, आनन्दघन पद रहे...... ।" प्रभु को स्वामी माना तो माया और कपट रहित बनकर आत्मा को उनके चरणो मे अर्पित कर देनी चाहिये। फिर किसी अन्य की अर्चना को आवश्यकता नही रहती। आत्मा मे कपट रखकर यदि पूजा और अर्चना भी की जाय तो वह सच्ची पूजा और अर्चना नही बनती। छल और कपट जब तक हैं तो भावो की शुद्धता नही बन सकती। आत्म-स्वरूप मे जब तक शुद्धता और सरलता का समावेश नही हो तब तक क्या भगवान की पूजा सभव हो सकती हैं और उस पूजा का क्या कोई श्रेष्ठ फल निकल सकता है? निष्कपट पूजा का फल ही आत्मानन्द की अनुभूति और अभिव्यक्ति के रूप मे प्रकटित और प्रकाशित होता है।

चित्त की सरलता के झरनो से ही आनन्द का जल गिरा करता है और यह जल ही झरने का प्राण होता है। सरलता चित्त मे हो और आनन्द चित्त मे रमा रहे—फिर वह जगत् का स्वामी क्यो नही बनेगा—क्योंकि वह अपनी आत्मा का जो स्वामी बन जाता है। स्वभाव को माया रहित जो बनाना है, वही भगवान् के सामने सच्चा आत्मार्पण है। कपट रखकर भक्ति की गई तो वह न तो भगवान् को प्रसन्न करेगी और न वह निज के चित्त को ही प्रसन्न करेगी। कपट युक्त व्यक्ति किसी भी क्षेत्र मे रहे, वह किसी को भी प्रसन्न नही कर सकता है। वह घर मे रहता है तो घर वालो से छल करता है और बाहर जाता है तो हर क्षेत्र मे कपट का प्रसार करता है। यह कपट जब गृहस्थाश्रम की दृष्टि से ही इतना अहितकर है तो भगवद्दर्शन के मार्ग पर यह कितना घातक होता है—इसका अनुमान लगा पाना ही कठिन है।

जो धर्म के रास्ते पर चले, धार्मिक क्रियाएँ करता हुआ सामायिक पौषध आदि करे लेकिन वह धर्म करते हुए भी यह सोचे कि मुझे धन मिले, सत्ता और

वैभव मिले, लोक व परलोक मे ऋद्धि व समृद्धि मिले तो क्या उसका धर्म करना निष्कपट कहलायगा ? जब चित्त की एकरूपता विचार और आचार मे नही बैठती तो निष्कपट आराधना भी नही बन पडती है। जब हमारा लक्ष्य मोक्ष का हो, आत्म-शुद्धि का हो, सयम और साधना का हो तब यदि धर्माचरण करने के साथ सासारिक सुखो की लालसा रखी जाय तो वह धर्माचरण भी कपटपूर्ण होगा। जो जैसा है, सरल चित्त उसे उसी रूप मे देखता है। धार्मिक क्रिया जिस लक्ष्य से करनी है, वह लक्ष्य कही भी ओझल नही होना चाहिए। भूल से गलती हो वह बात अलग है। किन्तु धर्म के रास्ते पर मन मे कपट लेकर चलें—वह अक्षम्य है।

पूजा जितनी निष्कपट और निश्छल होगी, जीवन की उज्ज्वलता भी उतनी ही अभिवृत्त होती चली जायगी। कपट के अभाव मे अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी या प्रत्याख्यानी भावो की स्थिति बनने का प्रसग मुश्किल से ही आएगा। आत्मा के चारो प्रमुख विकारो—क्रोध, मान, माया, लोभ मे माया याने कपट की स्थिति अधिक विकट होती है। क्रोधी, घमण्डी और लोभी फिर भी पहिचाने जा सकते हैं, मगर कपटी को पहिचान पाना बडा कठिन होता है। कपटी का अन्दर का रूप कुछ और होता है और बाहर का रूप कुछ और—यही कारण है कि कपटी हृदय का मैल भी सबसे ज्यादा चिक्कड होता है। कपट आत्मा के सारे सद्गुणो पर एक साथ प्रहार करता है और उसे प्रपचो के जाल मे पटक देता है। अत. यदि कपट को जीत लिया तो समझ लें कि आत्मा के अन्य कई दुर्गुणो पर भी विजय प्राप्त कर ली है। कपट निकृष्ट विकार है तो सरलता श्रेष्ठतम उन्नायक सद्गुण है।

सरलता से स्वरूप-दर्शन

आध्यात्मिक जीवन मे जिनकी थोडी-बहुत भी रुचि है, उन्हें आध्यात्मिक वाणी सुनने मे भी आनन्द का ही अनुभव होता है, क्योकि अधकार मे भटकती हुई उनकी आँखें इस वाणी से प्रकाश की किरणें प्राप्त करना चाहती हैं। धर्ममय जीवन की प्राप्ति के लिये सरलता एक अनिवार्य गुण है। कपट रहित चित्त की स्थिति के साथ ही जब धर्म पथ पर कदम बढायेंगे तो भगवान् के चरणो मे भी स्थान मिलेगा और उनके हृदय मे भी। उनका हृदय है वही तो निजात्मा का पूर्ण स्वरूप है। जो अपने को पा लेता है, वही तो भगवान् को भी पा लेता है। निष्कपट पूजा ही इस महान् उपलब्धि की प्रमुख साधिका है तो इसी पूजा का फल ही आनन्द के अटूट प्रवाह मे तैरता रहता है।

भगवान् के चरणो को पारस मणि के रूप मे मानिये। फिर निश्छल हृदय मे आत्मा का जितना मैल रूप लोहा उस पारस मणि के ससर्ग मे आता जायगा, वह स्वर्ण रूप बनता जायगा। मैल कटता जायगा तो उसका स्वरूप निखरता जायगा।

लोहे के साथ पारसमणि का सीधा सम्पर्क होना चाहिए तभी लोहा सोना बनता है। अगर दोनो के बीच मे कोई भी झिल्ली या पर्दा है और उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क नही है तो पारस का प्रभाव दिखाई नही देगा। वैसे ही आत्मा और परत्मात्मा का सीधा सम्पर्क होना चाहिए। यह सीधा सम्पर्क निष्कपट भाव के साथ मे ही साधा जा सकता है, फिर भी जब तक बीच का कर्मों का पर्दा पूरी तरह से क्षीण नही होता है तब तक आत्मा को परमात्म रूप की प्राप्ति नही होती है। आत्मा और परमात्मा के बीच का व्यवधान ही यह कर्म रूप पर्दा होता है जिसके हट जाने के बाद दोनो मे एकरूपता स्थापित हो जाती है अर्थात् आत्मा ही परमात्मा बन जाती है।

वर्तमान आत्मिक स्थिति को इसी उद्देश्य से जांचना और परखना है कि— भगवान् की पूजा करके कैसे अपनी आत्मा को भी भगवान् के तुल्य बनाई जा सकती है? आत्मा और परमात्मा के स्वरूपो मे जो अन्तर है, वही आत्मा की वर्तमान स्थिति है तथा इस अन्तर को दूर करने का प्रयास करना ही भगवान् के चरणो मे आत्मार्पण करना है। इसी आत्मार्पण से बीच का अन्तर घटता जाता है और विकास की स्थिति आगे बढती जाती है। लेकिन मन के किसी कोने मे अगर कपट है, छल है या किसी प्रकार की माया अथवा पाप का प्रसार है तो उससे आत्मा की गति भगवान् की ओर उन्मुख नही होगी। उस छलपूर्ण करणी से पुण्य का बध भले ही हो जाय, आन्तरिक शक्ति की पुष्ठता कभी नही होती।

भगवान् की पूजा रूप ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना जब निष्कपट भाव से की जायगी तो उसके फलस्वरूप चित्त की प्रसन्नता एवं आत्मा की निर्मल धारा का प्रवाह भी निर्बाध रूप से प्रवाहित होने लगता है। जीवन के ऐसे ही विशुद्ध धरा-तल पर राजकुमार कमलसेन भी चल रहा है। उसकी विचारणाओ एवं परि-स्थितियो मे ऊँचाई-निचाई की दशा बनती है, फिर भी वह अपनी नैतिकता एवं समता की भावना के साथ अपने जीवन को आगे ले जा रहा है।

कमलसेन का आदर्श लक्ष्य

जिसका लक्ष्य उत्तम बनता है और जो श्रेष्ठ प्राप्ति के लिए कार्य प्रारम्भ करता है, उसके लिये छोटी-मोटी उपलब्धियां स्वयमेव उपस्थित हो जाती है। किसान नाज उपजाने की नजर से खेती करता है, मगर भूसा अपने आप तैयार हो जाता है। वैसे ही जिस आत्मा का लक्ष्य परमात्मा के तुल्य बनने का हो जाता है तो ससार का वैभव उसके पीछे-पीछे चलता है किन्तु उसे उस वैभव की तनिक भी परवाह नही होती। उस वैभव के पीछे भागकर अपनी आत्मशक्ति का अपव्यय करने की स्थिति उसकी नही रहती है। कमलसेन राजकुमार भी एक सीधा लक्ष्य लेकर चल रहा है। उसे यह कामना नही कि राज्य, सम्पत्ति या वैभव उसे मिले। वह तो जितना दूसरो का भला कर पाता है, करने के लिये तत्पर रहता है। उस महिला

का दु ख निवारण करने की भावना से उसने प्रयत्न किया और उसका सुन्दर परिणाम विस्तार से सामने आया। वह वास्तव मे महिला नही थी, देव शक्ति का ही एक रूपक थी। उसके उस प्रयत्न मे निष्कपट भाव था अत उसे चित्त की अपूर्व प्रसन्नता भी प्राप्त हुई। जिस विषम परिस्थिति मे भी वह अपने श्रावक धर्म से नही डगमगाया, उसी दृढ़ता से देवता प्रसन्न हुआ।

राजकुमार कमलसेन एक सरोवर के किनारे बैठा हुआ अपने जीवन पर गहराई से चिन्तन कर रहा था, तभी उसके सामने एक घुडसवार आकर खडा हो गया। उसने कहा कि उधर बैठे दो व्यक्तियों ने आपको घोडे पर बिठाकर उनके पास पहुंचाने को कहा है अत: चलिये। राजकुमार ने यकायक अपरिचित के साथ जाना उचित नही समझा अत: पूछा कि वह कौन है और उसे कहाँ ले जाना चाहता है ? घुडसवार ने जब सरलता से कहा कि सामने के नन्दन वन नामी उद्यान मे महाराजा गुणसेन एव उनके प्रधान बैठे हुए हैं, उन्होने ही मुझे आपको लेने भेजा है तो राजकुमार कमलसेन उसके साथ हो लिये। सरलता का व्यवहार जहाँ हृदय को एकदम आकर्षित कर लेता है तो कपटपूर्ण व्यवहार से कई शकाएँ-आशकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

अशोक वृक्ष के नीचे विराजित चम्पा नरेश गुणसेन के समक्ष जब राजकुमार कमलसेन पहुंचे तो उन्होने दूर से नमस्कार करने का यत्न किया किन्तु प्रधान ने कहा कि नमस्कार करने की आवश्यकता नही है, वे वैसे ही आगे चले आएँ। सिंहासन के एक भाग पर बिठलाकर राजकुमार से उनका परिचय पूछा गया। प्रधान ने साथ ही यह भी कहा कि उनके कुलीन होने का अनुमान उनके हावभाव से लगा लिया था अत जिज्ञासावश ही उन्हे बुलवा भेजा है। राजकुमार ने सरलता एव विनम्रता से अपना परिचय दिया। राजकुमार की निष्कपटता से नरेश व प्रधान अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने उनका यथोचित सत्कार किया। फिर जब चम्पा नरेश ने राजकीय आभूषण उन्हे भेंट करना चाहा तो राजकुमार ने कहा कि वे आभूषणो को रहने दें क्योकि उसने अपना समग्र जीवन ही परोपकार के कार्य मे लगा रखा है। इससे राजकुमार के प्रति उनकी श्रद्धा और बढ गई। कमलसेन को साथ मे लेकर वे दोनो राजधानी की ओर रवाना हुए।

चम्पा नगरी के मार्गो से जब वे गुजर रहे थे तो कमलसेन उसकी शोभा एव नागरिकों की भद्रता से बहुत ही प्रभावित हुए। नन्दनवन मे व सारे मार्ग में महाराजा गुणसेन ने एक शब्द भी नही कहा तथा उनके मुखमण्डल पर आवश्यक हर्षभाव भी नहीं था—इसे राजकुमार ने महसूस किया और महल से जब महाराजा उठकर चले गए तो उन्होंने प्रधान के समक्ष अपनी जिज्ञासा रखी कि उनके इस स्वागत-सत्कार के पीछे विशेष प्रयोजन क्या है ? कमलसेन ने सरल भाव से पूछा तो प्रधान भी उसी भाव से उनकी जिज्ञासा का उत्तर देने की तत्परता दिखाते हैं। दोनो के बीच जो निष्कपट भाव था, वह जैसे उन दोनों के अन्तर-हृदयों को जोड रहा था।

जहाँ छल, वहाँ विकार

वास्तव मे सरलता और भद्रता का अनुभाव न स्वयं अपनी आत्मा को आह्लादित बनाये रखता है, बल्कि उस अन्तर-आह्लाद से जिस किसी का भी हृदय स्पर्श करता है, वह भी आनन्दित हुए बिना नही रहता। सरलता के स्रोत से ही आनन्द की धारा फूटती है, क्योकि जहाँ कपट है, छल और छद्म है, वहाँ हृदय मे राग-द्वेष के विकार और अन्य पाप वृत्तियो का निवास भी बना रहता है। विकारो के डेरे मे भला आत्मानन्द का उद्गम ही कैसे हो सकता है ?

जीवन की और मानव जीवन की सार्थकता, इसलिए इस प्रकार की परिस्थिति बाह्य एव आन्तरिक क्षेत्रो मे निर्मित करने मे है कि हृदय की कपट-भावना एव कुटिलता काट दी जाय और अपने प्रत्येक व्यवहार मे ऐसी सरलता रमा दी जाय कि वह प्रभाविक बन जाय। हृदय का ऐसा सरल एव विनम्र धरातल बनाकर जब भगवान् ऋषभदेव को अपना सच्चा स्वामी मान लेंगे एव उनके आदर्श स्वरूप को समक्ष रखते हुए आत्म-साधना मे निरत होगे तो अन्तिम लक्ष्य अधिक दूर नही रहेगा। तब एक दिन ज्योति मे ज्योति की तरह निजात्म-स्वरूप भी परमात्म स्वरूप मे लवलीन हो जायगा। आनन्द की इस अजरामर धारा मे यदि अवगाहन करना है तो उस धारा तक पहुँचने की महायात्रा का शुभारम्भ आज से ही कर दीजिए। इसमे की जाने वाली निष्कपट पूजा का अन्तिम फल अवश्य ही श्रेष्ठतम एव अद्वितीय होगा।

लाल भवन
२१-८-७२



कर्मयुद्ध मे विजय

"श्री जिन अजित नमू जयकारी ..."

आज हम प्रभु अजितनाथ की प्रार्थना का उच्चारण कर रहे हैं। नाम भिन्न है, स्वरूप वही है। जो शक्ति भगवान् ऋषभदेव की आत्मा मे अभिव्यक्त हुई, उसी शक्ति की धारिणी भगवान् अजितनाथ की सिद्धात्मा भी है। यह नाम अवश्य ही एक संघर्षशील परिस्थिति एवं उसमे सफलता के भाव को प्रकट करता है। अजित अर्थात् जिसको कोई जीत नही सके। अजित ऐसे हैं, जिन्होने सबको जीत लिया है, जिनका कोई शत्रु नही रहा और जिनके सब प्राणी मित्र रूप हो चुके हैं। जिन्होने समस्त बाधाओ को जीतकर अपने विकास मार्ग को प्रशस्त बना लिया है, और जो उस बाधारहित मार्ग पर आत्मानन्द के साथ गति करते हुए उसके अन्तिम छोर तक पहुँच गये—ऐसे हैं चरम आदर्श को अपने आचरण से अभिव्यक्त करने वाले भगवान् श्री अजितनाथ।

अन्तर के शत्रुओ से संघर्ष

मुक्तिकामी आत्मा को अवश्य ही ऐसे आदर्श की आकांक्षा रहती है। शत्रुओ को जीतना आसान काम नही होता और वे भी यदि बाहर के शत्रु हो तो शस्त्रास्त्रो व सेना की सहायता ली जा सकती है किन्तु अपने अन्तर मे रहे हुए शत्रुओ को परखना, खोजना, उनसे लडना और उन पर विजय प्राप्त करना निस्सन्देह अति दुष्कर कार्य है। कवि की भावना इसी दिशा मे प्रकट हुई है—

"पंथडो निहालू रे बीजा जिन तणो,
अजित अजित गुणधाम
जे ते जीत्या ते मुझ जीतियो रे
पुरुष किस्यो मुझ नाम।"

अजित बनने की निष्ठा लेकर जब कोई आत्मा उस दिशा की ओर प्रस्थान करे तो पग-पग पर बाधाएँ उपस्थित होती हैं। कहा है—श्रेयांसि बहु विघ्नानि;

अर्थात् श्रेष्ठ कार्यों के सम्पादन मे ही बहुधा विघ्न उपस्थित होते हैं। बुरे कार्य बेखटके पूरे हो सकते हैं, मगर अच्छे कामो मे तरह-तरह की बाधाएँ आ ही जाती है। एक प्रकार से इन बाधाओ का आना हितकारी भी है। जिसे पूरा युद्ध लडना है और उसमे आत्मा को गिराने वाले असख्य विकारो पर विजय प्राप्त करनी है तो ऐसे महत् कार्य के पहले बाधाएँ आएँ तो उनसे पुरुष का पुरुषार्थ ही जाग्रत होता है तथा उसके साहस व धैर्य का अनुपात भी बढ जाता है। बाधाएँ एक रीति से उसकी परीक्षा लेती हैं कि वह कार्यों के साथ संघर्ष करने के लिये आवश्यक आत्मशक्ति जुटा पाया है या नही ?

भगवान् अजितनाथ ने कर्मयुद्ध मे विजय का मार्ग तो दिखा दिया है किन्तु जब तक यह पूर्व-निश्चय नही हो जाय कि आत्मा मे उस मार्ग को खोज निकालने एवं उस पर स्थिरतापूर्वक चलने की शक्ति भी पैदा हो गई है या नही, तब तक कोई अजित-पथ का पथिक नही बन सकता है।

यह कर्मयुद्ध क्या है ? आत्मा को किन-किन शत्रुओ से लडना पडता है और उन शत्रुओ की शक्ति कैसी है ? यदि आत्मा उनके साथ सफल सघर्ष न कर सके तो उसकी कैसी हानि हो सकती है तथा कर्मयुद्ध मे विजय मिले तो उस विजय से आत्मा किस स्थान से कहाँ तक पहुँच जाती है ? अजित-पथ के पथिक बनने की इच्छा रखने वाली आत्मा को इन सारे प्रश्नो के सही उत्तर खोज कर उन पर अति गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

अजितनाथ प्रभु के सफल संघर्ष का मार्ग मुझे कैसे मिले—इसका ज्ञान और प्रयास प्रत्येक भवि आत्मा मे जागना चाहिये। इस मार्ग को खोजने के लिये भी अन्तर मे आवश्यक शक्ति का सचय होना चाहिए। यह क्यो ? इसका कारण साफ है। ज्यो ही आत्म विकास की दिशा मे पग बढाया जाता है कि उस पग को असफल बनाने के लिये ससार मे ऐसे तत्त्व है जो दूनी शक्ति से आगे आकर टक्कर लेते हैं और विकासशील आत्मा का हौसला पस्त कर देना चाहते है। यह तो मानी हुई बात है कि जब मुकाबले की टक्कर होती है और उसमे जब एक व्यक्ति दूसरे से मात खा जाता है तो वह और तरीको से उस हार का बदला निकालने की कोशिश करता है। यह बाह्य जगत का तथ्य है किन्तु आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से भी मनुष्य जब अजित-पथ की ओर मुडना चाहता है तो भगवान् अजितनाथ से हार खाये हुए वे आत्मा के कर्म-शत्रु उस मनुष्य की आत्मा को दूने वेग से घेर लेते हैं, क्योकि वे अपनी उस हार की खीझ उस प्रकार से निकालने को तत्पर होते है।

अभिप्राय यह है कि इस कर्म समूह एव विकारो के वर्ग से युद्ध छेडने के पहले मुक्तिकामी आत्मा को इस अनुमान से पर्याप्त शक्ति का सचय कर लेना चाहिये ताकि यह न हो कि जिन शत्रुओं को अजितनाथ ने जीत लिया, वे शत्रु उस आत्मा

को जीत लें याने कि उन शत्रुओं की घातक शक्ति के सामने आत्मा प्रारम्भ मे ही परास्त हो जाय। प्रार्थना के रूप मे भक्त कहता है कि हे भगवान्! जिन शत्रुओं को आपने परास्त कर दिया, वे अपनी हार मे खीझ कर सारे ससार मे इधर-उधर परिभ्रमण कर रहे थे और ज्यो ही मैं आपके बताये मार्ग पर आगे बढने लगा तो उन्होंने मेरे चारो ओर घेरा डाल दिया तथा मुझे वे परास्त करना चाहते हैं। इसलिये मैं अपने पुरुषार्थ-पराक्रम को यदि इस अवसर पर प्रकट नही कर सकूँ तो मेरा पुरुष नाम कैसे रहेगा ?

पुरुषत्व का सच्चा अभिमान

पुरुष का यह पुरुषत्व भी समझने लायक तत्त्व है। अधिकाश लोग अपने आपको पुरुषत्व के अभिमान मे रखकर चलते हैं लेकिन वह पुरुषपने का अभिमान किसके विषय मे ? क्या सिर्फ हाँ तू की बातो मे मूँछें तानने और निर्बल को सताने मे ? अथवा ससार की दौलत बटोरने व भोग-विलास की सामग्री एकत्रित करने मे ? यदि इन अहभावी एव स्वार्थी कार्यो तथा दूसरो के अधिकार हडपने की कुचेष्टा मे किसी ने अपने पुरुषत्व को काम मे लिया तो वस्तुत वह पुरुषत्व की अवस्था नही बल्कि प्रकारान्तर से कायर अवस्था को ही स्थिति होती है। अगर वह पुरुष नाम धराता है और अपने मन मे पुरुषत्व का गौरव महसूस करता है तो उसे इस आन्तरिक युद्ध मे अपने विशिष्ट पराक्रम का प्रदर्शन करना चाहिये।

इसी विशिष्ट पराक्रम की सहायता से ही आगे के कर्मयुद्ध मे अन्तिम विजय प्राप्त की जा सकती है। किन्तु इस विशिष्ट पराक्रम का प्रदर्शन तभी सभव बनता है, जब पहले से ही ऐसी पक्की तैयारी की जाय कि उस तैयारी को देखते ही शत्रु दूर से ही भाग खडे हो। ये शत्रु बाहर नहीं होते बल्कि अपने ही भीतर रहते हैं और आत्मा के सद्भावो का ह्रास करने की ताक मे ताका-झाँकी करते हैं। कोई पुरुष आपके सामने अपना हाथ उठाकर कुछ तेजी की बात करे तो बाह्य रूप से आप यही समझते है कि यह हाथ उठाने वाला मेरा शत्रु है और उससे उसकी हरकत का बदला लेने की कोशिश करते हैं। परन्तु आप अपने असली शत्रु को तुरन्त नहीं समझते हैं।

श्वान और सिंह स्वभावी प्राणी

ससार मे दो प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं—एक तो श्वान स्वभाव के तथा दूसरे सिंह स्वभाव के। आप जानते है, कुत्ता जिस मोहल्ले मे रहता है, वहाँ दूसरे कुत्ते के आने को पसन्द नही करता। यह भान उसमे नही होता कि मेरी तरह यह कुत्ता भी किसी न किसी घर से रोटी पा लेगा तो उसमे मेरा क्या नुकसान है ? कुत्ते का ऐसा यह स्वभाव अज्ञानपूर्ण होता है और वह सिर्फ अपने ही स्वार्थ को

देखता है। शत्रु समझने मे भी उसका भ्रमपूर्ण स्वभाव होता है। कोई उस पर डण्डा फैंके तो वह गुस्से मे आकर उस डण्डे को ही दाँतो से पकडता है, काटता है और उसे ही अपना शत्रु समझता है।

दूसरी ओर सिंह का स्वभाव उससे भिन्न होता है। वह विकट वन मे रहते हुए भी निर्भयतापूर्वक विचरण करता है। उसकी चाल मे एक आकर्षक मस्ती होती है। वह वनराज कहलाता है, फिर भी उस वन मे अन्य कोई भी पशु आए और रहे तो उससे सिंह को कोई आपत्ति नही होती। कोई आए या जाए—उसका तटस्थ भाव होता है। अपनी भूख मिटाने के अलावा वह हर किसी को कभी भी सताने का प्रयास नही करता है। कभी किसी शिकारी ने अगर गोली चलाई तो वह उसका बदला भी लेता है, मगर कुत्ते की तरह उस गोली को अपने दाँतो से नही पकडता, बल्कि बिजली की सी गति से गोली चलाने वाले पर सीधा आक्रमण करता है।

श्वान एव सिंह स्वभाव की तुलना मे सही वस्तुस्थिति को समझकर असली शत्रु को पहिचानने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। इस एकदेशीय रूपक से स्वभाव की स्थिति को पकडना है। सिंह की विशेष योग्यता उसकी तीव्र शक्ति के रूप मे होती है। उसमे शक्ति अधिक होती है तथा वह अपना सीधा वार अपने असली शत्रु पर करता है। कुत्ता बकवासी ज्यादा मगर कम ताकत वाला होता है तथा अपने असली शत्रु को भी पहिचान नही पाता है। प्रत्येक मनुष्य को भी इस संदर्भ मे अपने स्वभाव की पहिचान करनी चाहिये कि वह श्वान से मेल खाता है अथवा सिंह से। और यदि श्वान से मेल खाता है तो उसे अपने लिये अयोग्य समझ कर सिंह स्वभाव की ओर मुडने का कठिन प्रयास करना चाहिये।

श्वान स्वभाव वाले मनुष्य अधिकतर जो अन्य व्यक्ति उन पर आक्रमण करता है उसे ही अपना शत्रु मानकर उसके साथ प्रतिहिंसा पर उतारू हो जाते हैं। किन्तु सिंह स्वभाव के मनुष्य ऐसा नही करके ऐसे मामलो मे अपने असली शत्रु का पता लगाते है और उन पर विजय प्राप्त करने का यत्न करते हैं। आक्रमण करने वाले को वे असली शत्रु नही मानते, बल्कि असली शत्रु को वे अपने ही अन्तर मे खोजते है। सिंह स्वभावी यही सोचता है कि यदि मेरी आत्मा का पतन करने वाला कोई शत्रु है तो वह शत्रु काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा आदि के रूप मे मेरे ही अन्तर मे बैठा हुआ है जो मेरे जीवन को संसार की गली-बीथियो मे भटका रहा है और मेरी आत्मा को पल-पल मे पछाड कर निस्तेज बना रहा है। अनादि काल से मैंने इस शत्रु का पोषण करके अपने ही घर को जलाया है। यह सोचते हुए वह समझता है कि जिन व्यक्तियो ने मेरे साथ कुछ बुरा बर्ताव किया तो मैंने यह सोचने का कष्ट नही किया कि बेचारे उस शरीर की क्या हैसियत, जो वह मेरा बुरा कर सकता। वह तो मेरे अपने ही कर्मों का उदय था जिसके कारण मुझे उसके हाथो कष्ट उठाना

पड रहा है। दूसरे, उस शरीर के अन्दर रहने वाली जो आत्मा है और वह आत्मा भी अपने स्वभाव की दृष्टि से सिंह के समान प्रकृति वाली है किन्तु आत्मा को मलिन बनाने वाले तथा उसको श्वान स्वभाव मे धकेलने वाले काम, क्रोधादि विकार रूप शत्रु है, जिन्होंने उस आत्मा को बेभान बना दिया और उसने मेरा बुरा करने की चेष्टा की। वह आत्मा अपने शत्रु के अधीन होकर शत्रु के निर्देश से मेरे साथ शत्रुता कर रही है अत उसके लिये उससे बुरा नही मानना चाहिए।

सिंह स्वभाव वालो की यह भावना राग-द्वेष की कलुषिता को मिटा देती है तथा हिंसा के विरुद्ध प्रतिहिंसा की दुर्भावना को समाप्त कर देती है। वे कुत्ते की तरह डण्डे को अपने दांतो मे नही पकडते बल्कि अपनी कठोर साधना के तीव्र वेग से मचान पर बैठे शिकारी पर करारा वार करते है। जब सिंह अपने शिकारी पर वार करता है तो पूरी तरह सन्नद्ध होकर तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उस पर झपटता है। उस तेज झपाटे से शिकारी का बच जाना आसान नही होता। ऐसे ही तेज झपाटे के लिये विकासशील आत्मा को अपनी घनी आन्तरिक शक्ति का सचय करना होता है कि वासनाओ के शत्रु आत्मा के उग्र प्रहार से बच न सके, बल्कि यह सचय तो उस सीमा तक अधिकतम होना चाहिये कि ये शत्रु आत्मशक्ति पर प्रहार करने का दुस्साहस ही न कर सके। यह सचय जितना अधिक सशक्त होगा, काम, क्रोधादि विकार आत्म प्रदेशो मे प्रवेश ही नही कर सकेंगे।

कर्मयुद्ध के कई मोर्चे

कर्म रूपी इन शत्रुओ से इस प्रकार कई मोर्चो पर आत्मा को युद्ध करना पडता है। इन शत्रुओ को पराजित करने का सरल मार्ग ही यह है कि सयम, तप और धर्म के साधनो से स्वय की आत्मा पर ही ऐसा सफल नियन्त्रण प्राप्त कर लिया जाय कि वे शत्रु उस आत्मा पर न तो अपना कोई दुष्प्रभाव डाल सकें और न ही उस पर अपना कोई सचोट आक्रमण कर सकें। जैसे इस शरीर के लिये क्षय रोग होता है और क्षय रोग के कीटाणुओ से लडने के लिये औषधि-विज्ञान के क्षेत्र मे व्यक्तिगत रूप से एव सामूहिक रूप से कई कठोर प्रयास किये जाते हैं तथा कीटाणुओ को देशनिकाला दिया जाता है। उसी प्रकार ये कर्म पुद्गल आत्मा के लिये क्षय रोग के समान हैं जो निरन्तर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का क्षय करते रहते हैं। अत इन कर्म पुद्गलो को प्रभावहीन बनाने के लिये आत्मा को बहुत बडी और लम्बी लडाई लडनी होती है।

आत्मा को लगा हुआ यह क्षय रोग इसके केवल एक जन्म को ही क्षत-विक्षत नही बनाता अपितु अनादि काल से आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप को क्षत-विक्षत बनाता चला आ रहा है और जब तक जागृति नही आएगी तब तक इसे क्षत-विक्षत बनाता ही चला जायगा। यह आन्तरिक क्षय रोग अति भयावह है तथा यह जन्म-जन्मान्तरो

तक आत्मा को रोग ग्रस्त बनाये ही रखता है। इस क्षय रोग के मूल कीटाणु हैं—काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा आदि तथा उनसे पनपने वाले राग-द्वेष वगैरा। ये कीटाणु व्यक्ति के मन मे बाह्य घटनाओ के आधार पर प्रवेश करते है तथा अन्तर की भावनाओ को तत्काल ही आन्दोलित बना डालते है। कोई व्यक्ति कितना ही शात बैठा हो लेकिन आप देखेंगे कि सामने क्रोधावस्था मे कोई दूसरा व्यक्ति आता है तो वह भी क्रोध से तमतमा उठेगा। वह शान्त नही रह पायेगा और उसके भीतर भी उत्तेजना आ जायगी।

क्रोध का विनाशक प्रभाव

यह उत्तेजना क्यो और कैसे आ जाती है ? क्रोध के जो एक प्रकार के परमाणु होते हैं, वे एक पिड रूप होते है। वह एक स्कध होता है। जिस मनुष्य के भीतर ऐसे विभिन्न स्कध पनपते हैं, वे उस मनुष्य के शरीर, मन और आत्म प्रदेशो को जर्जरित बना डालते है—इतने जर्जरित कि जैसे बिना रक्त और मास के एक नरदेह ककाल मात्र रह जाती है। शरीर के प्रत्येक अगोपाग से ये स्कध भयकर दुर्दशा करके बाहर निकलते है। कहते है कि विज्ञान भी इस दिशा मे खोज कर रहा है तथा इतना पता लगा लिया गया है कि क्रोधादि के ये परमाणु शान्त व्यक्ति पर किस प्रकार आक्रमण करते है तथा यदि उस व्यक्ति की सहनशीलता आदि के रूप मे अपनी पक्की तैयारी न हो तो किस प्रकार उसे जलाते हैं ? इन परमाणुओ के किरण चित्र भी लिये गये बताये जाते हैं।

कल्पना करें कि एक तरफ घासलेट पडा हुआ है, स्पिरिट की बोतल भी पडी है तथा दूसरी तरफ आग की चिंगारी सुलग रही है। स्पिरिट, घासलेट और चिंगारी का स्वभाव ऐसा है कि वे आपस मे एक-दूसरे को समीप आने पर जल्दी से जल्दी पकडते है। चिंगारी का ससर्ग मिलते ही घासलेट-स्पिरिट भडक उठता है। इसी प्रकार से वर्तमान जीवन पर काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओ का आक्रमण एक दूसरे पर हुआ करता है और जिसके भीतर यह शत्रु अत्यधिक सशक्त है तो समझिये कि उसके अन्तर मे धू-धू करके आग जल रही है और विकारो की लगाई यह ऐसी आग होती है जो आत्मा की अच्छाइयो को जलाती ही जाती है तथा बुराइयो की कालिख से आत्मा के स्वरूप को कलकित बनाती जाती है।

इस आन्तरिक क्षय रोग की भी शारीरिक क्षय रोग की तरह विभिन्न श्रेणियां होती हैं। शुरू की श्रेणी मे विकारो का बहुत ही कम जोर होता है और उस समय ही यदि आत्मा मे सतर्कता पैदा हो जाय तो अल्पशक्ति के साथ प्रारम्भ मे ही उन कीटाणुओ को सहज ही मे नष्ट किया जा सकता है। दूसरी श्रेणी मे टक्कर फिर बराबरी की हो जाती है। कभी औषधियाँ कीटाणुओ को दबा देती हैं तो कभी कीटाणु औषधियो को बेअसर कर देते है और काफी प्रभावकारक होने पर ही औषधियाँ

उन कीटाणुओ को नष्ट कर पाती हैं। किन्तु तीसरी श्रेणी मे जव यह आन्तरिक क्षय-रोग भी पहुँच जाता है तो फिर यह एक अति दुष्कर कार्य वन जाता है कि औषधियाँ अति सशक्त वने उन कीटाणुओ को नष्ट कर सकें। अधिकतर तो ये कीटाणु आत्मशक्ति का दमन करके उस क्षय रोग से इस कदर ग्रस्त और पीडित वना देते हैं कि अनन्त काल तक उसका पुन स्वस्थ हो पाना अति कठिन हो जाता है।

यह क्षय भी छूत का रोग होता है। जो भी इस रोगी के सम्पर्क मे आता है, वह भी इस क्षय रोग से आक्रान्त हुए विना नही रहता। आप देखेंगे कि एक क्रोधी व्यक्ति के पास कोई रहता है तो वह भी क्रोधी वन जाता है। एक वच्चे को किसी क्रोधी व्यक्ति के पास छोड दीजिये तो कुछ समय के वाद ही देखने को मिलेगा कि उस क्रोधी व्यक्ति का जैसा क्रूर और कठोर स्वभाव है, वैसा ही उस वच्चे का भी स्वभाव ढल जायगा। आगे चल कर उसकी प्रकृति पर नियन्त्रण करना भी कठिन हो जायगा। कारण, क्रोध के कीटाणु उस पर अपना ऐसा कुप्रभाव छोड देंगे कि उससे मुक्त होने मे एक जटिल सघर्ष के अलावा और कोई चारा नही रह जायगा। इसके विपरीत, उसी वच्चे को एक सरल एव नम्र स्वभावी सज्जन पुरुष के सान्निध्य मे रख दें तो वह वच्चा भी शान्त, गम्भीर, धैर्यवान्, वुद्धिशाली एव प्रतिभासम्पन्न हो जायगा। यह सगति-जन्य परिस्थिति तो प्रत्यक्ष मे देखने को मिलती है।

असली शत्रुओ की पहिचान

तो मै यह वता रहा हूं कि राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि ये आन्तरिक शत्रु ही वास्तविक एव असली शत्रु हैं तथा सिंह स्वभावी पुरुष इन असली शत्रुओ को पहिचान कर सीधा इन पर ही आक्रमण करते हैं तथा इनके साथ युद्ध मे अपने अमित शौर्य्य का प्रदर्शन करते हुए अन्तिम विजय प्राप्त करके अजितनाथ भगवान् की तरह अजित वन जाते है। जव तक मनुष्य इन शत्रुओं के पजे के नीचे दवता रहता है और अपने को अशक्त वनाकर इन शत्रुओ के अधीन चलने लगता है तो ये उस पर ज्यादा से ज्यादा हावी होने लगते हैं। जव तक वह इन्हे वाहर निकालने व आगे से नही अपनाने का कठिन अभियान नही छेडता तव तक ये अपना घेरा डाले रहते हैं। जव ऐसा कठिन अभियान सफल वनने लगता है तव इन विकारों की चिंगारी आग वनने के पहले ही वाहर नष्ट हो जाती है।

इस अभियान को आरम्भ करने और सफल वनाने मे मूल तत्त्व होता है पुरुषार्थ और पराक्रम। साहस और पुरुषार्थ को जगाये विना कोई भी युद्ध लडा नही जा सकता है वल्कि कोई भी युद्ध इनके विना जीता तो जा ही नहीं सकता है। इनके लिये अपनी शक्ति को जागृत करना और साहसिक वनना कि मैं पुरुष हूं तथा अपने पुरुषार्थ से मुझे कर्मयुद्ध मे विजय प्राप्त करना है—एक भव्य आत्मा के लिये आवश्यक

है। वह आत्मा तब दास वृत्ति से स्वामी वृत्ति की ओर आगे वढती है। जो अव तक विकारो की दास थी अव वह विकारो पर शासन करने लगती है। अन्तर उद्‌वुद्ध बनता है और अपने आप को राजा मानने लगता है। यह राजा भाव ही आत्मा को स्वामी बनने की अवस्था मे पहुँचाता है।

किन्तु स्वय आत्मा का स्वामी वन जाना—अजितनाथ भगवान् के स्वरूप के समकक्ष हो जाना तत्काल सम्भव नही होता है। आप जानते हैं कि मेडिकल कॉलेज मे प्रवेश लेने वाला छात्र एक दिन मे ही डाक्टर नही वन जाता है। निरन्तर अध्ययन, अभ्यास एव अध्यवसाय से ही कालान्तर मे वह कुशल चिकित्सक वन पाता है, उसी तरह कर्मयुद्ध मे कुशल योद्धा एव निश्चित विजेता वनने के लिये आत्मा को भी कठिन साधना की विभिन्न श्रेणियो मे से गुजर कर मजिल तक पहुँचना होता है।

मूल वात इस कारण यह मानी जायगी कि आप आत्मा के इन असली शत्रुओ—क्षयकारक कीटाणुओ को भली-भाँति पहिचाने और अपनी सम्पूर्ण सचित आतरिक शक्ति के साथ उन पर काक्रमण कर दें। इस युद्ध मे त्याग और वलिदान के ऐसे ऊँचे स्तर पर आरूढ हो कि आप भी एक दिन अजित वन जायें।

कमलसेन की कमल-वृत्ति

राजकुमार कमलसेन भी वास्तव मे कमल जैसा था जो विकारी वातावरण मे रहते हुए भी अपने आत्मिक सुस्वास्थ्य को श्रेष्ठ रूप मे वनाये हुए था। अपनी तरुणाई मे भी वह विकारो का दास नही बना था, बल्कि राजा की तरह उन पर अपना अनुशासन चलाता था। राजकुमार ने प्रधान मतिवर्धन के समक्ष अपनी जिज्ञासा और अधिक स्पष्ट की कि आपने महाराजा गुणसेन के समक्ष मुझे जिस प्रकार सम्बोधित किया उससे ऐसा लगा जैसे आपने मुझे कहा हो कि मैं ही इस राज्य का स्वामी बनूँ—इसका अन्तर्रहस्य क्या है? एक म्यान मे दो तलवार रखने जैसी यह बात आपने क्या कही, जिसका समाधान पाने के लिए मैं व्यग्र हो रहा हूँ।

प्रधान ने विस्तार से अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया और उसका श्रीगणेश चम्पा नगरी के पूर्वशासक श्रीकेतु महाराजा के जीवन से किया जिनकी महारानी वैजयन्ती उनकी सभी क्षेत्रो मे आदर्श जीवन सगिनी के रूप मे थी। दोनो परस्पर धर्म चर्चा करते रहते थे। एक दिन चर्चा मे महाराजा ने पूछ लिया कि क्या इस नगरी मे ऐसे पवित्र आन्तरिक जीवन वाला कोई व्यक्ति मौजूद भी है। तभी एक चतुर व्यक्ति ने सभा मे खडे होकर कहा कि ऐसा व्यक्ति इसी नगरी मे है। वह विणयधर नाम का एक आत्माभिमुखी व्यक्ति है। उसके भी चार धर्मपरायणा सेठानियाँ हैं।

यहाँ पर इस सत्य को भी समझ लीजिये कि किसी मनुष्य को महान् बनाने मे उसकी अपनी साधना तो मुख्य रूप मे होती ही है किन्तु ससार पक्ष मे परिवार एव माता-पिता के संस्कार भी प्रमुख होते हैं। उसके बाद जीवन सगिनी के रूप मे धर्मपत्नी का विशिष्ट महत्त्व होता है। यदि पुरुष अपनी धर्मपत्नी को सच्ची धर्म-सहायिका के रूप मे ले और उसकी नेक सलाह को मानते हुए गृहस्थी को चलाये तो वह एक आदर्श गृहस्थ एव आदर्श नागरिक बन सकता है तथा वह पुरुष यदि राजकीय पद पर है तो उससे उसका व्यक्तित्व चमत्कारपूर्ण बन जाता है।

निर्णायक युद्ध और विजय

अजितनाथ भगवान् की प्रार्थना का प्रभाव यह होना चाहिये कि मनुष्य गृहस्थाश्रम मे रहे तब भी अपने अन्तर के अरियो को समझे और उनसे लडे तथा गृहस्थाश्रम छोड कर साधु अवस्था मे आये तब तो यह युद्ध अधिक उग्र और अधिक निर्णायक बन जाना चाहिये। जीवन जीने के लिये है किन्तु कायर और कलकित बने रहकर नही। कायरता से तो मृत्यु ही अच्छी किन्तु मृत्यु को कोई चाहता नही और चाहना चाहिये भी नही, जब वह मृत्यु विकारो के हाथो आत्मिक सद्गुणो की हो रही हो। इसलिये विकारो से निरन्तर सघर्ष तथा इस कर्मयुद्ध मे विजय विकासशील जीवन की प्रमुख सक्रिय आकाक्षा होनी चाहिये।

लाल भवन
२२-८-७२



काम-जय से आत्म-जय

"अजित अजित गुणधाम ......"

भगवान् अजितनाथ के लिये प्रार्थना की पक्तियो मे 'अजित अजित गुणधाम' कहा गया है जिसका अर्थ है कि उन्होने अपने कर्म शत्रुओ को तो पूर्ण रूप से पराजित किया ही है किन्तु यह नकारात्मक स्थिति मात्र उनके साथ मे नही है। विकारो पर विजय प्राप्त करके उन्होने स्वीकारात्मक भूमिका का भी इतना पुष्ट निर्माण किया कि वे गुणधाम अर्थात् महान् आत्मिक सद्गुणो के तीर्थ रूप भी बन गये। घर मे से आप मैला, कूडा-करकट वगैरा साफ कर ले तो स्वच्छता आ जायगी किन्तु उसके बाद यदि उसको उचित साज-सज्जा से सज्जित नही किया जा सकेगा तो उसमे वाछित शोभा की स्थिति नही बनेगी। विकारो का मैला साफ कर लेने के बाद गुणो की श्रेष्ठता से जिन्होने अपनी आत्मा को पूर्णरूप से सजाया है, उन अजितनाथ प्रभु की ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की शोभा अद्वितीय प्रतीत होती है।

वास्तविक शोभा का निवास आन्तरिक विकास मे होता है। जो निष्ठावान् पुरुष अजितनाथ जी के अजित-पथ पर चलना चाहते है, उन्हे पहले आन्तरिक शुद्धि की स्थिति पर विचार करना पडेगा तथा उस शुद्धि के साथ-साथ विकारो से जिन अशो मे मुक्ति मिलती जायगी, उतने पराक्रमपूर्वक आत्मिक गुणो को ग्रहण करने की मनोवृत्ति परिपक्व बनती जायगी। इस पथ पर अग्रसर होने के लिये पहले चिन्तन का अभ्यास करना होगा। चिन्तन की सहायता से ही यह अनुभव किया जा सकेगा कि आत्मा विकारो की कैसी-कैसी अशुद्धियो मे लिप्त है तथा उनसे छुटकारा कैसे पाया जा सकेगा।

चिन्तन और आत्म-विकास

चिन्तन का क्रम जितना सुलझता जायगा और स्पष्ट होता जायगा, त्यो-त्यो आत्मिक विकास की पृष्ठभूमि स्पष्ट दिशा सकेतक बनती जायगी। चिन्तन की धारा जब निश्चित दिशा मे बिना किसी भ्रान्ति के बहने लगती है तो वह धारा फिर वाणी

मे फूटती है। चिन्तन में जब भगवान् अजितनाथ का ध्यान किया एवं उनके परम आदर्श स्वरूप पर विचार किया तो वह चिन्तन आत्मविश्वास के साथ घुल-मिलकर जब वाणी मे परिवर्तित होता है तो वचनो से भी भगवान् की गुणगाथा की जाती है। मन, वचन से पुष्ट होकर वह विचार और वचन जब कार्यरूप मे उतरते हैं तो निश्चित रूप से वहाँ से आत्मा की विकास-यात्रा प्रारम्भ हो जाती है।

मन, वचन तथा कर्म की एकरूपता एव दृढता के साथ जब मनुष्य अपने आत्म-जय के मार्ग पर प्रयाण करता है तो उसके अन्तर मे अमित साहस, स्फूर्ति एवं उत्साह छाया हुआ रहता है। किन्तु कहावत है कि जो कार्य जितना महान् होगा, उसमे आपत्तियाँ भी उतनी ही डिगाने के लिए आयेगी। सोने ही को तपाने के लिये आग मे डाला जाता है, पीतल को नही और जब सोना तपकर खरा साबित होता है तो उसकी वह प्रदीप्त शोभा भी दर्शनीय बन जाती है। इस शोभा को प्राप्त करने के पहले सोने को अग्नि की भयकर ऊष्मा मे से होकर गुजरना पडता है—इस व्यावहारिक तथ्य को कभी भुलाया नही जाना चाहिये।

विकारो की जब प्रबलता होती है तो आत्मा की चेतना एव उसके सद्गुण छिपे रहते है तथा उनका जो सुप्रभाव अपने एव समाज के जीवन पर पडना चाहिये, वह प्रकट नही हो पाता है। आप अनुभव करते होंगे कि प्रभात काल मे सारा ससार सूर्य किरणों की लालिमामय आभा का अभिलाषी होता है किन्तु यदि उस समय सारे आकाश मे काले बादल छाये हुए हो तो प्रकाश पुंज सूर्य की किरणें क्या बाहर आ सकेगी ? कितने ही प्रयत्न के बावजूद भी उस समय कोई सूर्य किरणो की उस सुदर्शनीय रक्ताभा को अपनी आँखो से देख नही पाता है। वैसे ही इस अन्त.करण के भीतर सद्गुण रूपी सूर्य की जब आभा छिटकने को होती है तभी विविध विकारो के काले बादल उसको घेर कर ढक लेते है। इस प्रकाश को आत्मा की चेतना के रूप मे देखिये—तब आप महसूस करेंगे कि ये विकार आत्मा के मूल पर आघात करते हैं और उसे सदैव अन्धकार मे ही पडी रहने देना चाहते है। यही आत्म-विस्मृति की स्थिति होती है—जब प्रकाश दूभर बन जाता है।

काम—आत्म-विस्मृति का प्रमुख कारण

आत्म-विस्मृति का सभी विविध विकारो मे सबसे बडा कारण होता है काम। कामदेव के रूप मे मानकर भी अन्य विचारको ने इसे संयमित विकास का सबसे बडा रोडा माना है। काम का प्रभाव भी सारे संसार मे प्रगाढ रूप से सर्वव्यापक होता है और इसीलिये जो काम को जीत लेता है उसे महादेव माना जाता है। काम जब तक आत्मा को दबोचे रहता है तब तक उसकी विस्मृति की अवस्था भी बराबर बनी रहती है। इस विस्मृति से उबरना भी कठिन होता है और उबरने का संकल्प कर लेने के बाद काम-जय करना तो अति कठिन माना गया है। जो काम-शत्रु,

पर जीत हासिल कर लेता है तो दूसरे विकार-शत्रु तो स्वयमेव ही परास्त हो जाते है।

काम रूपी काला बादल जब आत्म सूर्य को घेर कर छिपाये रखता है तो काला बादल तो घनघोर रूप मे दिखाई देता है। मगर सूर्य का स्वरूप दिखाई तक नही देता—उसे समझना और उसके प्रकाश को आत्मसात् करना तो आगे की बात होती है। कामरूपी बादलो का कोहरा इस तरह छाया हुआ रहता है कि चेतना गुणो की किरणे अदृश्य ही बनी रहती हैं। आत्म विकास की अभिलाषा रखने वाले को जब इन किरणो का दर्शन नही होता तो उसकी अन्तर की भावना इसके लिये व्यग्र बनने लगती है कि वह अजित प्रभु के मार्ग पर चलकर आन्तरिक जीवन के गुणो के दर्शन करे। यह व्यग्रता जितनी अधिक तीव्र बनती है उतना ही काम के काले बादलो से सघर्ष करने का उत्साह अभिवृद्ध होता है तथा सूर्य के पूर्ण स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये उस आत्मा का संकल्प दृढ और अटल बन जाता है।

किन्तु जब तक आत्मा मे ऐसी गहरी जागृति उत्पन्न नही हो जाती तब तक तो काम का रूप ही आत्मा की विचारणा और जीवन के व्यवहार मे छाया रहता है। वह व्यक्ति काम का रूप ही देखता है, आत्मा का स्वरूप नही देख पाता। वास्तविकता यह है कि यह आत्म-स्वरूप इन चर्म नेत्रो को दिख सके—यह सम्भव भी नही है। स्थूल पदार्थों को ये नेत्र देख पाते हैं, किन्तु आत्मस्वरूप का दर्शन इन चमडे की आंखो का वस्तु-विषय नही है। भगवान् अजितनाथ के पथ को देखने और उनके स्वरूप को अपनी आत्मा के दर्पण मे अवलोकन करने का काम ज्ञान-चक्षुओ का है। अन्तर का उत्साह अन्तर का विषय है जो अन्तर को जगाने से ही प्रस्फुटित हो सकता है। इन ज्ञान चक्षुओ को हृदय के नेत्र कहिये अथवा अन्त करण की ज्योति, किन्तु इन्ही की सहायता से सूक्ष्म अजित-पथ के दर्शन हो सकते है।

अन्त करण की इस ज्योति को प्रज्वलित करने एव इस ज्योति की रक्षा करने की सफल स्थिति तभी बनती है जब जीवन मे पुरुषार्थ प्रबल बनता है। यह ज्योति निरन्तर समान रूप से प्रकाशित रहे और अधिक रूप से प्रकाशित होती रहे तो आगे बढते रहने का मार्ग निष्कटक होता जाता है। किन्तु इस अन्तर्ज्योति को बुझा देने को सर्वाधिक आतुर विकार होता है—काम, जो बार-बार विषय वासना के तेज अन्धड चलाता रहता है। जहां पर आत्मा की जरा सी भी जागरूकता कम हो तो उस अन्धड मे वह ज्योति तेजहीन हो सकती है या बुझ सकती है। एक भद्रनारी जिस प्रकार अपने आंचल से दीपक की रक्षा करती है और उसे बुझने नही देती, उसी परवाह और पुरुषार्थ से इस अन्तर्ज्योति की रक्षा वाछनीय होती है। कामरूपी भयकर शत्रु का मुकाबिला साहसपूर्ण पुरुषार्थ के बल से ही सफलतापूर्वक किया जा सकता है। जीवन मे निश्चित स्वीकृति एवं अनुभूति के साथ जब माना जाय कि

कामरूपी शत्रु से सफल संघर्ष करना है तो उसके अनुरूप आत्मशक्ति की सन्नद्धता भी होनी चाहिये।

आत्मशक्ति से काम कटेगा

साहस का संचार इस विचार के साथ प्रसारित होना चाहिये कि यह कामरूपी शत्रु कोई स्थायी आधार नही रखता—गहरी आस्था और दृढ चारित्र्य शक्ति से इसे पछाड़ा जा सकता है। एक तेज झटका दो तो यह काम बिखर कर टूट जायगा। कैसा भी बादल सूर्य के सामने आ जाये किन्तु अन्ततोगत्वा उसे वहाँ से जरूर हटना ही पड़ता है। सूर्य के तेज प्रकाश को सदैव के लिये छिपाये हुए नहीं रखा जा सकता है। सूर्य का प्रकाश जब पुरुषार्थ के साथ उग्र बनता है तो गहरे से गहरे बादल भी छँटने लगते हैं। फिर काम ही की ऐसी कौन-सी अपराजेय शक्ति है कि वह आत्म-चेतना की तेजस्विता से परास्त न किया जा सके। साहसपूर्ण इस विचार के साथ जब कार्य की शक्ति विकसित होगी तो काम का दुष्प्रभाव ताश के महल की तरह देखते-देखते समाप्त होने लग जायगा।

कामदेव को जीतना आत्म शक्ति की प्रबलता से ही संभव हो सकता है। एक बार ज्यों ही बादलो का छँटना शुरू होता है, वे छँटते चले जाते हैं और तब मध्याह्न का सूर्य ऐसा तपता है कि उसका प्रकाश तब सारे ससार का जीवनपूर्ण मार्गदर्शक हो जाता है। वस्तुत देखा जाय तो आत्मिक एव नैतिक शक्ति के सामने काम की शक्ति बहुत ही तुच्छ होती है। इससे लड़ने के लिये आवश्यक शक्ति संचित करली जाय तो इसको आसानी से परास्त भी किया जा सकता है। किन्तु उसके साथ ही यह कामशत्रु इतनी मारक-शक्ति वाला भी है कि आत्म शक्ति मे आई छोटी सी दुर्बलता की ओट लेकर यह सारी प्रगति को पल भर मे ही धूल मे भी मिला देता है। काम की कमजोरी से इतिहास बताता है कि बड़े-बड़े व्यक्ति भी पिछड़ गये।

शास्त्रकार भी इसी दृष्टि से संकेत देते है कि काम आत्म-विकास का सबसे बड़ा शत्रु है। परन्तु आप यह न सोचे कि यह शत्रु कही से हाथ मे तलवार घुमाता हुआ आयेगा और आपकी घात करने का यत्न करेगा। यह तो आन्तरिक शत्रु है और जब-जब आत्मा विस्मृति के क्षणो में डूबती है, यह शत्रु अपनी मारक शक्ति से आत्म-गुणों की घात करता ही रहता है। काम-प्रभावित आत्मा को दुष्ट की सज्ञा दी गई है। यद्यपि मूलरूप मे आत्मा पवित्र है और दुष्ट नहीं है, फिर भी दुष्ट की सगति से वह दुष्ट बन जाती है तथा दुष्ट कहलाती है। काम-शत्रु के कारण इस आत्मा की दशा दुरापात के रूप मे दृष्टिगत हो रही है।

गुणी जनो का भी कथन है कि दुष्ट आत्मा का रूप उससे भी अधिक भयंकर होता है जो नगी तलवार हाथ मे लेकर कंठ छेदन करने वाला व्यक्ति होता है। वह व्यक्ति तो एक शरीर की ही घात करता है लेकिन कामरूपी शत्रु जब काम-शस्त्र

ही तलवार चलाई है। आपकी इस मदनरेखा का इसमे निमित्त मिला किन्तु आपकी पत्नि चारित्र्य पर अटल रही है और अटल बनी रहेगी। काम ने आपके भाई को मारा है, यह न हो कि क्रोध के आक्रमण से आप हार जायें। यह आपका अन्तिम जीवन है जिसमे किसी विकार को सामने न आने दें। अपने आपको वीतराग धर्म की शरण मे समर्पित कर दें। इस प्रकार छोटे भाई की मृत्यु विशुद्ध भावनाओ के साथ हुई और उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

कामरूपी शत्रु के आक्रमणो के एक या दो उदाहरण नही—ढेर सारे उदाहरण भरे पडे है। वास्तव मे तो वे उदाहरण आदर्श रूप होते है जो काम-शत्रु के आक्रमणो के विरुद्ध शूरता से लडते हैं और काम को करारी हार देते हैं। महासती नैनरवा, महासती राजुल आदि के प्रेरणाप्रद जीवन इस सत्य के प्रतीक हैं कि उन्होने काम पर ऐसी करारी चोटें की कि काम और काम के घोडे—दोनो भागते नजर आये। काम-जय के पश्चात् जीवन मे अनुपम निर्मलता का प्रवेश होता है किन्तु काम-जय भी अनुपम पुरुषार्थ प्रदर्शन के बिना संभव नही बनती है। काम को जीतने के लिये अन्तर मे पुरुषार्थ की ज्योति प्रज्वलित करनी पडती है तथा उस ज्योति की रक्षा करते हुए उसके प्रकाश मे काम के अन्धकार को हटाते रहना पडता है। जीवन की पवित्रता और सच्चाई तभी बनती और बढ़ती है।

विनयधर सेठ की चारित्र्य-प्रशंसा

राजकुमार कमलसेन के जीवन-प्रसग मे आप सुन रहे हैं कि प्रधान उसकी जिज्ञासा के उत्तर मे पूर्व राजा श्रीकेतु की राजसभा का वर्णन कर रहे हैं, जिसमे विनयधर सेठ का प्रसंग आया है। सभा मे अधिकाशतः व्यक्ति विनयधर सेठ की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। इस प्रशसा से वहाँ बैठे हुए एक व्यक्ति के मन मे ईर्ष्या की आग जल उठी। वह सभा मे खडा होकर कहने लगा कि विनयधर सेठ और उसकी चारो देवागना तुल्य सेठानियो का बाहर का रूप कुछ और है किन्तु मैं जानता हूँ कि उनका अन्दर का रूप कितना कुरूप है। दूसरे व्यक्तियो ने उसके कथन का तीव्र विरोध किया और उसे निन्दा बताया। उन्होने सेठ की विनयशीलता और चारो सेठानियो की अनुपम चारित्र्य शक्ति की पुनः-पुन प्रशंसा की। उन्होने चुनौती दी कि इन सबके चारित्र्य मे शका करने की कोई स्थिति नही है, फिर भी कोई चाहे तो उनकी परख की जा सकती है।

काम शत्रु का कुप्रभाव देखिये कि राजसभा मे तो विनयधर सेठ की प्रशसा का बहुमत था, सो वहाँ बात समाप्त हो गई किन्तु श्रीकेतु राजा के मन-मस्तिष्क पर विनयधर सेठ की सेठानियो का वर्णित अदभुत सौन्दर्य छा गया और वे काम के वशीभूत होकर तडपने लगे। श्रीकेतु महाराजा के काम-पीडित मन मे उथल-पुथल मडने

लगी। एक ओर कलंक का भय है तो दूसरी ओर कामाग्नि की ऊष्णता। काम की ज्वालाओं के शमन का उपाय भी वे करना चाहते हैं, किन्तु मन इतना अशान्त हो गया है कि उन्हें कुछ भी ठीक से सूझता नहीं। उस समय उनके कक्ष मे उनका एक स्नेही जन प्रवेश करता है जो महाराजा को उस चिन्तातुर अवस्था मे देखकर पूछ बैठता है कि आप इतने व्यग्र एव खिन्न कैसे दिखाई दे रहे हैं? काम के समुद्र मे गोते लगाते हुए महाराजा को भी जैसे तिनके का सहारा मिला। महाराजा ने उससे अपने काम-तप्त मन की दशा का वर्णन करते हुए निस्तार उपाय पूछने की इच्छा व्यक्त की।

किन्तु यह स्नेही व्यक्ति भी और तरह का निकला। उसने महाराजा की कामोत्तेजकता को और ज्यादा भडकाया और कहा कि विनयधर सेठ की सेठानियो का रूप वास्तव मे देवागनाओ से भी बढकर है तथा वह महाराजा के लिये उनको सुलभ करने की व्यवस्था करेगा। महाराजा श्रीकेतु अब काम के जाल मे अधिक फँसते जा रहे है।

अजित बनिये

यह कथाभाग तो आगे चलेगा किन्तु इससे आप जीवन की कडियाँ पकडिये और आत्मशक्ति को इस कामरूपी शत्रु पर अन्तिम विजय प्राप्त करने के लिये आगे बढाइये। काम-जय से आत्म-जय का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। एक काम का दमन कर लेते हैं तो दूसरे सारे कर्मों का दमन सहज हो जाता है और कर्मों के बादल हटे नहीं कि आत्म सूर्य का तरल प्रकाश चहुँ ओर प्रसारित हो जायगा। विकारो के व्यामोह मे लिप्त न होकर भगवान् श्री अजितनाथ की तरह अजित बन जाने मे ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य समाया हुआ है।

लाल भवन
२३-८-७२



चिन्तन की धारा में

"जयशत्रु राजा ओ विजया राजी को आत्मजात तुम जी . . . "

अजितनाथ भगवान् की प्रार्थना की पक्तियो का जो उच्चारण किया जा रहा है, उसका मूल अभिप्राय यह है कि चिन्तन की मनोवृत्ति का सम्यक् विकास हो सके। इन पक्तियो मे जिन शब्दो का सकलन हुआ है, उन सब शब्दो के अर्थ के साथ जीवन का चिन्तन आवश्यक है। प्रार्थना की पक्ति वाह्य रूप से जितनी महत्त्वपूर्ण नही है, उतना उसके गूढार्थ पर चिन्तन महत्वपूर्ण है, क्योकि इस चिन्तन के प्रसग से ही बौद्धिक एव मानसिक स्तर का क्रमिक विकास सुलभ बन सकता है। चिन्तन आत्मा मे गम्भीरता की प्रवृत्ति का विकास करता है और धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो चिन्तन की गम्भीरता बढती जाती है एवं यदि वह धारा आत्म विकास की दिशा मे बहती है तो उसका श्रेष्ठ प्रभाव वाणी एवं कर्म पर भी परिलक्षित होने लगता है। वाणी और कर्म का मूल तो चिन्तन मे ही होता है।

चेतना और उसका आवरण

आत्मा का मूल गुण चेतना-ज्ञान है। चेतना का नाम ही आत्मा है—ऐसा कहा जाय तो सर्वथा उचित ही होगा। प्रत्येक जीवात्मा मे शुद्ध स्वरूपी चेतना का निवास होता है जैसा कि सिद्धात्मा मे होता है, किन्तु इस चेतना के क्षेत्र मे जो भयकर अन्तर दिखाई देता है, वह कर्म-मैल की प्रगाढता के रूप मे दिखाई देता है। जिस आत्मा के साथ जितने अधिक और जितने चिकने कर्म-पुद्गल सम्बन्ध होते है, उसका चेतना गुण भी उतना ही आच्छादित बना हुआ रहता है। जिस आत्मा का चेतना गुण जितना ढक जाता है, समझिये कि उसकी मूर्च्छा भी उतनी बढ जाती है। इसलिये बुद्धि और चिन्तन की क्षमता इसी स्थिति के अनुसार न्यूनाधिक रूप मे जीवात्माओ मे पाई जाती है।

बुद्धि या चेतना की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जीवात्मा का स्तर भले ही ऊँचा-नीचा हो, परन्तु बुद्धि सब आत्माओ मे विद्यमान होती है। इसी

बुद्धि के जरिये वह अपने भले-बुरे का ज्ञान करती है तथा उपस्थित परिस्थितियो म अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करती है। प्रत्येक क्षेत्र के अन्दर भी बुद्धि के प्रयाग से ही काम चलता है। जितना-जितना जिसकी बुद्धि का अधिक विकास होता है उतना-उतना उसका कार्य अधिक कुशल, व्यवस्थित एव सराहनीय होता है तथा वह उसके अनुसार अधिक एवं विस्तृत बुद्धि सम्पन्न कहलाता है। बुद्धि की मात्रा के अनुसार ही चिन्तन की गूढता बनती है और बढती है।

आत्मा के विकास के अनुसार ही बुद्धि की मात्रा अल्प या अधिक होती है। आत्मा के विकास के साथ ही इन्द्रिय शक्ति का विकास होता है और इन्द्रिय शक्ति की क्षमता ही चिन्तन को भी सक्षम बनाती है। जहां बुद्धि के विकास की कमी है, वहां वह सीमित स्थिति से ही चिन्तन करता है, किन्तु बिना चिन्तन के किसी भी प्राणी की स्थिति नही है। जीवात्मा मे अल्प से अल्प हो, किन्तु चेतना की स्थिति रहेगी अवश्य, वरना वह जीवात्मा ही नही कहलायगा। और जहां अल्प से अल्प चेतना है तो अल्प से अल्प ही सही—वहां चिन्तन की भी क्षमता मिलेगी ही। जीव चाहे मनुष्य गति मे हो या पशुओ की जाति मे अथवा देव या नरक की स्थिति म हो—सर्वत्र अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा अपने-अपने क्षेत्र मे आवश्यक प्रयोजनो के लिये चिन्तन अवश्य करता ही है।

चेतना जितनी अधिक जागृत अवस्था मे होगी, चिन्तन का स्तर भी ऊपर उठता जायगा। इन्द्रिय जन्य शक्ति की उच्चता मनुष्य आदि को प्राप्त होती है जिनके पास पांचो इन्द्रियो और मन की भी उपलब्धि होती है। फिर भी मनुष्यो मे अधिकतर ऐसे भी मिलेंगे जिनके मन और मस्तिष्क की स्थिति अत्यन्त दुर्बलता एव अशक्त सी प्रतीत होती है। न्यूनाधिकता की परिस्थिति तो सर्वत्र ही दिखाई देती है। इसी के अनुसार ज्ञान दशा का प्रयोग ये मनुष्य करते है तथा तदनुकूल चिन्तन का अभ्यास भी उनका बनाता है। यहां जो ज्ञान एव चिन्तन की क्षमता बता रहे हैं, वह साधारण शक्ति से सम्बन्धित है, उसकी दिशा की स्पष्टता अलग से समझेंगे। जो क्षमता है, वह गुण है। जब दिशा आत्मोद्धारक होगी तो सद्गुण रूप ही वह क्षमता होगी तथा उसका परिणाम भी उसी तरह श्रेयस्कर होगा और यदि दिशा विनाश की ओर ले जाने वाली हुई तो उस क्षमता को भी वह दुर्गुण रूप बना देगी तथा उस क्षमता का उस अवस्था मे दुरुपयोग ही अधिक होगा।

चिन्तन की क्षमता

क्षमता के इस स्तर के अनुसार एक इन्द्रिय और मन के [illegible] इन्द्रिय वाले जीवात्माओ का स्तर नीचे उतरेगा और उनसे नीचे [illegible] इन्द्रिय वाले जीवो का स्तर होगा। परन्तु एक इन्द्रिय वाले [illegible] चिन्तन की क्षमता रखते हैं एव उसके प्रकाश मे अपनी वर्तमान [illegible]

निकालते है। स्पर्श इन्द्रिय समस्या का स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष समाधान नही निकाल सकती है। लेकिन स्पर्श के पीछे रहने वाला जो ज्ञान है जिसको बुद्धि कहा जा सकता है और वह अति स्वल्प बुद्धि होती है। फिर भी उस बुद्धि से भी वे जीव अपने जीवन की समस्याओ को हल करते हैं।

एकेन्द्रिय जीवो के ज्ञान के सम्बन्ध मे आपको कई तथ्य सुनकर आश्चर्य होगा। किन्तु यदि आप स्वय के अनुभव से चिन्तन करेंगे तो यह स्थिति भी आपसे अविदित नही रहेगी। इन एकेन्द्रिय प्राणियो मे भी यह ज्ञान विद्यमान होता है कि कौन-सा भोजन उनके शरीर एवं जीवन की सुरक्षा के लिये हितावह है तथा उसके अनुसार कौन-सा भोजन ग्रहण करना। आप देखते होगे कि वर्षा के मौसम मे बुवाई के पहले किसान लोग जब अपने खेतो को तैयार करते है तो उसके बाद उसमे चाहे रासायनिक खाद हो या पुरानी तरह का खाद हो—वे खाद खेतो मे डाला करते हैं। पुराना खाद तो सीधे तौर पर गोबर अथवा सडान्ध युक्त तत्त्वो वाला होता है। इस दुर्गन्ध से भरे तत्त्वो को सारे खेत मे बिखेर कर किसान उसमे बीज बो देता है। किन्तु उस बीज से जब पौधा निकलता है, उसके फूल और फल लगते हैं तब उनमे वह दुर्गन्ध नही होती है।

इस स्थिति मे समझने का तथ्य यह है कि वह भारी बदबू वाला खाद पौधे की जडो मे काफी पर्याप्त मात्रा मे पडा होता है, फिर भी उसमे से वह पौधा उतना ही खाद ग्रहण करता है, जितना उसके सुस्वास्थ्य के लिये आवश्यक होता है। यह सम्यक् ग्रहण शक्ति उस एकेन्द्रिय जीवात्मा की चेतना अथवा चिन्तन शक्ति के प्रमाण रूप ही तो होगी। वह पौधा खाद को न तो अधिक और न ही अल्प मात्रा मे ग्रहण करता है बल्कि जितना ग्रहण करता है, उसे वह अपने शरीर के अनुरूप परिणत कर लेता है, न कि वह विकृति के रूप मे जाता है।

पौधो की फलदायी शक्ति से भी उनकी ज्ञान दशा का प्रमाण मिलता है। एक ही बडे खेत मे गेहूँ की भी क्यारियाँ हैं, चने की भी हैं तथा उसी के एक भाग मे अफीम की फसल भी बो रखी है। सभी मे एक ही प्रकार का खाद भी दे रखा है, किन्तु प्रत्येक प्रकार का पौधा अपनी आवश्यकता के अनुसार ही उसमे से अपना भोजन ग्रहण करेगा तथा उस एक रूपता के बावजूद भी विभिन्न प्रकार के फलो का वे पौधे उत्पादन करेंगे। उसी खाद से पौष्टिक गेहूँ भी पैदा होगा तो विषमय अफीम भी। उसी भूमि एवं खाद से इन दोनो पौधो ने विपरीत उत्पादन कैसे कर लिये? इसकी तह मे एकेन्द्रिय जीवो की ज्ञान-शक्ति प्रकट होती है कि वे समान भोजन मे से भी अपनी रुचि के अनुकूल अंग ही ग्रहण करते हैं। जब यह एक छोटे से वनस्पति पौधे की स्थिति है तो यह विचार करने की बात है जिक बतक मनुष्य जैसा पांचो इन्द्रियो और मन वाला प्राणी अपनी चिन्तन-

शक्ति का पूरा और समग्र-भरा उपयोग नहीं करे तो कैसे उसका चिन्तन सर्वोच्च सीमा तक उर्ध्वगामी बन सकेगा ?

उच्चतम विकास की प्रक्रिया

मनुष्य जीवन में आत्म-विकास की दृष्टि से ऊँची उपलब्धियाँ प्राप्त हैं। किन्तु जब तक उनके स्वस्थ उपयोग का अभ्यास नहीं किया जायगा तथा चेतना शक्ति का सर्वांगीण प्रयोग नहीं होगा, तब तक आत्मशक्ति विकासशील कैसे बन सकेगी ? उच्चतम विकास को प्राप्त करने के लिये चिन्तन की प्रक्रिया का सुदृढतम बनना परम सहायक होता है। आप अपने मस्तिष्क को इस चिन्तन के क्षेत्र में तत्परतापूर्वक जब नियोजित करेंगे तो आप न सिर्फ स्वय के स्वरूप के विषय में, बल्कि ससार के सभी प्रकार के जीवों के वर्तमान स्वरूप के बारे में भी विशिष्ट जानकारी पा सकेंगे।

चिन्तन की दशा में भी स्थायित्व नहीं होता है। यदि आत्म-विकास की परिस्थितियाँ सुधरती है और ऊपर उठती है तो इन्द्रिय शक्ति का विकास भी होता है तथा गति की स्थिति भी सुधरती जाती है। एक से दो और इस तरह पचेन्द्रिय व मन वाली गति भी मिलती है एव उसमें भी बुद्धि की मात्रा एव श्रेष्ठता में वृद्धि होती है। यह अवस्था ही विकासशील कहलाती है तथा आत्मा जब अपना सर्वोच्च विकास साध लेती है तो वही परमात्मा की स्वरूपधारिणी बन जाती है। इसके विपरीत यह गति पापात्मा जीवों की पतन की दिशा में भी जा सकती है, जो श्रेष्ठ स्थिति से गिरते हुए एकेन्द्रिय की दयनीय दशा तक नीचे की ओर पहुँच जाते हैं। इसी परिवर्तनशीलता के ही आधार पर चिन्तन की क्षमता में भी परिवर्तन होता रहता है तथा उसकी श्रेष्ठता में भी।

मानव जीवन अन्य सम्पूर्ण जीवनों में इसी कारण उत्कृष्ट जीवन कहलाता है कि उसमें बुद्धि के विकास एव ज्ञान की शक्ति का जो प्रौढ स्वरूप ऊँचे से ऊँचे स्तर पर पहुँच सकता है, वह अन्य जीवनों में सम्भव नहीं होता है। अपनी बुद्धि के प्रयोग से ही मनुष्य कठिन से कठिन समस्याओं के भी सारपूर्ण समाधान निकालता है और विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति सम्पादित करता है।

किन्तु यह विचारणीय विषय है कि जब मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ क्षमता ज्ञान एवं विज्ञान की मिलती है और वह फिर भी अज्ञान तथा बेभान रह कर यदि उस क्षमता का श्रेष्ठ उपयोग न करे अथवा उसका अपनी ही आत्मा के हितों के विरुद्ध दुरुपयोग करे तो उसके लिये सावधानी का एक स्वस्थ वातावरण बनाने अथवा ध्यान रखने का कार्य कितना आवश्यक एव रचनात्मक होगा ?

बुद्धि का वर्तमान अतिरेक

आधुनिक मानव जीवन के साथ यह विशिष्ट समस्या और जुड गई है कि जितना उसकी बुद्धि का विकास हो रहा है, उतना ही उसमे अतिरेक भी आता जा रहा है। प्राकृतिक शक्तियो पर अपने बुद्धि-बल से उसने विजय प्राप्त की है। किन्तु उसके साथ ही वह जिस रूप मे प्रकृति के नियमो के विपरीत चलने की अपनी आदत वना रहा है, उससे वह अपने निज के स्वभाव को भूलता जा रहा है तथा उसमे नाना प्रकार की विकृतियाँ भी एकत्रित करता चला जा रहा है। मैं एकेन्द्रिय जीवो के भोजन की चर्चा कर रहा था। तो भोजन ही के बारे मे मनुष्यो की भी चर्चा कर लूँ। जिससे उसकी विकारपूर्ण स्थिति पर रोशनी पडती है।

कैसा भी खाद हो, किन्तु पौधा उतना ही ग्रहण करता है जितना ठीक-ठीक उसकी सुरक्षा और वृद्धि के लिये आवश्यक हो। यदि पौधा भोजन का भान भूल जाता हो तो वह सड-गल जायगा या सूख जायगा। पौधा सडता-गलता है तो अति वृष्टि से और सूखता है तो अनावृष्टि से किन्तु अपने भोजन मे दोष वह अपनी ओर से नही करता। किन्तु ज्ञान एवं चिन्तन की दशा मे सर्वोन्नत होते हुए भी जव मनुष्य के सामने स्वादिष्ट एव मिष्ट भोजन आता है तो वहुसख्यक लोग अवश्य ही भान भूल जाते है और अपनी पाचन-क्रिया व स्वास्थ्य को विगाड कर भी स्वाद लालसा मे फिसल जाते हैं।

एक पौधा भी जो गलती नही करता, पशु भी अपनी रुचि के अनुसार चारा-दाना लेता है, लेकिन जव मनुष्य ही इतना लालची वन जाता है तो यह उसकी विकार-दशा ही तो कहलायगी। इस दशा को स्वस्थ वनाने के लिये वृद्धि के साथ विवेक की भी सख्त जरूरत होती है। विवेक ही बुद्धि के इस प्रकार के दुरुपयोग को रोकता है। पौष्टिक की अपेक्षा स्वादु भोजन का उपभोग तथा उसे भी अत्यधिक मात्रा मे खा लेना एवं वाद मे उसके पाचन की कृत्रिम वस्तुएँ—चटनी, चूर्ण आदि का प्रयोग करना, प्रकृति के विरुद्ध चलना ही तो हुआ और इसका दुष्परिणाम भी पूरी तरह उसे भुगतान पडता है।

वुद्धि होते हुए भी विवेकपूर्ण चिन्तन का अभाव तथा उस पर भी प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध चलने की आदत ने मनुष्य को पीडित भी वना रखा है, फिर भी उसमे आवश्यक सावचेती नही आती—यह खेदपूर्ण वस्तुस्थिति है। भोजन की लालसा मे वढोतरी भी इसी स्थिति के कारण हो रही है। इसका परिणाम दिखाई देता है कि तपस्या की वृत्ति घटती जा रही है तथा जो तपस्या की भी जाती है उसकी विधि अधिकतर अप्राकृतिक होने के कारण उसका कुफल आत्मा और शरीर—दोनो पर स्पष्ट प्रकट होता दिखाई देता है। एक माह मे कम से कम चार उपवास भी कर लिये जाएँ तो संयम की वृत्ति भी शुद्ध रहती है तथा शरीर भी स्वस्थ वन जाता है।

कई लोग उपवास आदि तपस्या करते भी हैं किन्तु उसके पहले और बाद में भोजन का इतना असंयम आ जाता है तथा इतना भोजन अधिक और गरिष्ठ ठूँस-ठूँस कर खाया जाता है कि तपस्या का सुफल होना तो दूर रहा, उल्टे उस असंयम से शारीरिक स्वास्थ्य भी बहुत ज्यादा बिगड़ जाता है। उस अवस्था में आत्मिक स्वास्थ्य की दशा तो केवली ही जानें। वास्तव में संयम सहित उपवास तो चिकित्सा के प्रधान साधन के रूप में सफल बनते हैं, जिनका प्रयोग प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा भरपूर किया जाता है।

बुद्धि को विवेक से जोड़िये

जब बुद्धि के साथ विवेक का अभाव होता है तो वह विपरीत दिशा में बढ़ने लगती है। इसीलिये तो बुद्धि सुबुद्धि भी होती है और कुबुद्धि भी। बुद्धि के कुबुद्धि रूप में परिवर्तित होने पर उस क्षमता का दुरुपयोग होने लगता है। उस दुरुपयोग की स्थिति में भी चिन्तन तो होता है, लेकिन वह चिन्तन भी 'कु' से युक्त होकर कुत्सित ही होता है। 'कु' की दिशा पतन की होती है और जितनी अधिक क्षमता के साथ 'कु' की दिशा में गिरना होता है, पतन की गिरावट भी उतनी ही भयानक होती है।

मानव जीवन में इस कारण इस बिन्दु की ओर प्रधान रूप से ध्यान केन्द्रित होना चाहिये कि इस प्राप्त बुद्धि एवं ज्ञान की क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग हो—यह पहली बात तथा दूसरे, उस उपयोग में नियामक की तरह विवेक प्रतिक्षण विद्यमान रहे। इस प्रक्रिया से मनुष्य जो चिन्तन करेगा उसमें इस संसार के विकारों का जीतने का संकल्प होगा और दृढ संकल्प होगा। अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को प्राप्त करना तथा उसके लिये उसके जीवन में लोक कल्याण एवं परोपकार की वृत्ति का भी अत्यधिक रूप से विस्तार होने लगेगा।

चिन्तन के ऐसे श्रेष्ठ प्रवाह के निर्माण के लिये ही भगवान अजितनाथ की प्रार्थना करनी है और उनके चरणों में बैठकर उनके आदर्श स्वरूप को हृदयंगम करके उसे अपने जीवन में उतारना है। यह कार्य बनेगा कैसे ? इसके लिये कवि ने ही मार्गदर्शन दिया है—

> चरम नयण करी मारग जोवता रे
> भूल्यो सकल संसार।
> जेणे नयणे करी मारग जोइये रे
> नयण ते दिव्य विचार॥

विवेकपूर्ण चिन्तन की वृत्ति का सृजन बनाकर अन्तर्मुखी आत्म-विकास के मार्ग को खोजना है और उस पर चलना है। किन्तु प्रभु के स्वरूप का दर्शन तथा उस मार्ग

की खोज इन चर्म चक्षुओ से सम्भव नही है। जिन आँखो से ऐसे दिव्य दर्शन किये जा सकते हैं तथा उच्च विचारो को ग्रहण करने की रुचि बनाई जा सकती है, वे आँखें ज्ञान चक्षु ही हो सकते हैं जो दिव्य दिशा मे भी दूर तक दर्शन करने मे सक्षम होते है। ऐसे ज्ञान चक्षु जिसके खुल जाते है तो उनके प्रभाव से चर्म चक्षुओ सहित सभी इन्द्रियो और मन की शक्ति भी आश्चर्यजनक रूप से बढ जाती है।

ज्ञान और लब्धियों की उपलब्धि

चेतना की वह उत्कृष्ट स्थिति बनती है तब ज्ञान चक्षुओ की सहायता से शारीरिक शक्तियाँ भी अभिवृद्धि हो जाती है। इन्हे ही शास्त्रीय परिभाषा मे लब्धियाँ कहा जाता है। ये लब्धियाँ एक प्रकार से आत्मिक विकास के शारीरिक फल के रूप मे प्रतिफलित होती हुई दिखाई पडती है। आन्तरिक ज्योति यदि आज भी प्रकाशित हो तो लब्धि रूप शक्तियाँ प्रत्यक्ष मे दिखाई देती हैं, क्योकि इसका सीधा सम्बन्ध आत्म शक्ति की तदनुकूल क्षमता से होता है। सोवियत रूस की एक ११ वर्षीय बाला वेरा पेट्रिलोया का वृत्त मैंने पढा था जिसके अनुसार यह बाला अपनी चर्म चक्षुओ की दृष्टि से परे भी देख सकती थी और वहाँ की जानकारी दे सकती थी। मनोविज्ञान वेत्ताओ ने उसे मन को केन्द्रित करने की शक्ति कहा, लेकिन असल शक्ति तो अन्तर की ही मानी जायगी।

यह अन्तर की शक्ति भी तो मुख्य रूप से मन की ही गति-विधि पर आधारित रहती है। "मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयोः।" मन ही मनुष्य को बाँधता है तो मुक्ति दिलाने वाला भी मन ही होता है। मन को केन्द्रित करने का परिपक्व अभ्यास ज्ञान चक्षुओ को सजग बनाने की दिशा मे सफल बन सकता है। यह आपकी सामायिक ही है जिसके द्वारा आप यदि निरन्तर अभ्यास करें तो मन की गति समता के अनुसार चलने लगेगी। सामायिक क्रिया का रूढ रूप मे पालन इसमे कोई सहायता नही करता। सामायिक एक तरह से साम्य एवं दिव्य दृष्टि निर्माण की प्राथमिक पाठशाला है जिसको सफल बनाने के बाद ही तो विद्यालयो और महाविद्यालयो की शिक्षा का क्रम आ सकता है।

ससार मे ऐसे भी कई लोग होते है जो प्राथमिक पाठशालाओ की योग्यता भी पूरी नही प्राप्त करते और अपने आपको महाविद्यालय का स्नातक बता देते है। वास्तव मे ऐसे लोग समाज के लिये ज्यादा खतरनाक होते हैं। 'अर्धविज्ञ नर ब्रह्मापि न रंजयेत् ...' के अनुसार ऐसे लोग न तो दूसरो की शिक्षा मानते हैं और न सही रास्ते पर ही चलते है। इनका स्वयं का वास्तव मे कोई चिन्तन होता नही है, किन्तु अपने आपके बाहरी ढग से ये ऐसा बताते है जैसे बहुत बडे चिन्तक हो। इस मिथ्या प्रदर्शन मे वे दभ और हठवाद को बढावा देते हैं। बन्दर को हल्दी का एक गाठिया मिल गया तो वह पसारी बन बैठता है। इस तरह रूढ विचारणा से कुछ पकड

लगा और चेतना को ताक में रख देना, जीवन विकास को अन्धकार की ओर मोड़ना हो जाता है।

अन्तर्ज्योति की रक्षा

अन्तर्ज्योति को प्रकट करने की दिशा में जितना श्रम और जितनी साधना की जायगी, वही सार्थक होगा। अन्धकार से प्रकाश की ओर गति करने का यही मार्ग है कि आत्मा के भीतर का अन्धकार हटे और वहाँ ज्ञान का प्रकाश फैलता जाय। जितनी ही धारा में जड़ता [illegible] और दुर्बलताएँ [illegible] और मूढ़ताओं की शोध [illegible]—तो उसका आत्म-प्रकाश भी निरन्तर अनिवृद्ध होता रहेगा। अन्तर्ज्योति के एक बार प्रकट हो जाने के बाद सावधानी इस बात की होनी चाहिये कि उसकी रक्षा भी की जाय, उसका प्रकाश निरन्तर अधिकाधिक उज्ज्वल बनता जाय। आज [illegible] [illegible] पथ है और मैं आपको बताना चाहूँगा कि इस पथ का प्रारम्भ भी अन्तर्ज्योति की रक्षा के उद्देश्य से ही हुआ था।

और उन्होने उसका ऐसा खरा-खरा उत्तर दिया कि प्रधान सिटपिटा गया। उस समय वह कुछ बोला नही, उसे उसने अपने भयकर अपमान के रूप मे लिया। आचार्य की आज्ञा से मुनि रात्रि को एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये, तब रात को वह प्रधान चार साथियो के साथ नगी तलवारे लेकर वहाँ पहुँचा तथा सबने उनकी हत्या के लिए तलवारे उठाई किन्तु किसी अदृश्य शक्ति के प्रभाव से ऐसा हुआ कि उनकी तलवारें और उनके पैर वही स्थिर हो गये। सुबह जब लोगो ने व राजा ने यह दृश्य देखा तो वे बडे कुपति हुए और उन्हे वहाँ से हटाया। मुनि ने उस समय उसे प्राणदण्ड न देकर छोडने का आग्रह किया और अपने मारने वाले को भी रक्षित किया। यह दृष्टात काफी विस्तृत है किन्तु सार यह है कि जहाँ चिन्तन की धारा गंभीर होती है और अन्तर्ज्योति पूर्णतया जागृत होती है, वहाँ वह अपने हत्यारे की भी रक्षा करने का ही भाव रखता है। जहाँ सच्ची रक्षा करने की भावना है नही तो रक्षाबन्धन पर्व की भी सार्थकता होती है।

भगवान् अजितनाथ की प्रार्थना के रस को अपने अन्तरतम तक पहुँचने दीजिये। वह रस चिन्तन की धारा को गम्भीर और गूढ बनायगा। चिन्तन जितना सजग, जितना विवेकपूर्ण एव जितना साधनामय बनता जायगा, आत्मा का स्वरूप भी उतना ही अधिकाधिक निर्मल होता जायगा। चिन्तन वह मूल है जहाँ से ज्ञान का वृक्ष अधिक से अधिक पल्लवित और पुष्पित होता है। चिन्तन का अभ्यास और विकास उन्नत जीवन की महती आवश्यकता है।

लाल भवन
२४–८–७२



○ अनुकरण : अंध और जागृत

' अजितनाथ प्रभु तुम देवन को देव जो [illegible] "

भगवान अजितनाथ की प्रार्थना करते हुए हम उनके आदर्श स्वरूप की ओर क्या देखना चाहते हैं ? हम में स्व-जीवन की परम्परा क्यों है ? बच्चा अपनी अबोध अवस्था में जिस किसी को जो कुछ करते हुए देखता है वैसा ही वह स्वयं करने लग जाता है । मूल में इस करने की [illegible] की वृत्ति होती है और वह है अनु-करण की वृत्ति । बच्चा अच्छा या बुरा जैसा भी देखता है उसी का [illegible] अनुकरण [illegible] कर देता है । इसीलिए बाल्यकाल की सुशिक्षा आवश्यक मानी गई है, [illegible], वह अपनी [illegible] शक्ति की अवस्था में [illegible] देंगे, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

चलने का सिलसिला वना रहता है तभी तो विकास का चक्र आगे से आगे घूमता रहता है। वालक जब पिता का अनुकरण करता है या गुरु का अथवा भक्त भगवान् का—तो उसकी मूल भावना यही होती है जो कुछ इन पूर्वजो ने सम्पादित कर लिया है उसे ही अपनी आगे की प्रगति का आधार वनाना चाहिए ।

अनुकरण के साथ श्रद्धा का मेल

पूर्वानुभव हो या पूर्व की उपलब्धियाँ हो—अनुकरण के समय ज्ञान दृष्टि से अगर अनुकरणकर्त्ता भी उन्हे जाँच और परख ले तो उसका अनुकरण गलत दिशा मे ले जाने वाला नही होगा। अनुकरण के साथ श्रद्धा का होना आवश्यक है किन्तु श्रद्धा के वास्तविक स्वरूप को भी भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए। वर्तमान काल मे हमारे क्षेत्र मे तीर्थङ्कर नही है, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली या पूर्वधर भी विद्यमान नही है, तव प्रश्न उठता है कि सही मार्गदर्शन के लिए किसकी ओर देखा जाय? तव दृष्टि सन्त एवं विद्वान् पुरुषो की ओर ही जाती है । किन्तु हतोत्साहित करने वाली परिस्थिति ऐसी दिखाई देती हैं कि इनमे से तो अधिकाश पुरुष जो कुछ कहते हैं, उसे अपने जीवन मे उतारते नही हैं। कथनी और करनी के भेद मे चरित्र-हीनता की अवस्था प्रकट होती है।

श्रद्धा को अनुकरण के साथ जोडते समय इस परिस्थिति की ही पक्की पहिचान करनी जरूरी है। ऐसी अवस्था मे यदि केवल श्रद्धा से ही काम लें तो गलत मार्ग पर भी कदम वढ सकते है। इसलिए सच्ची श्रद्धा वह होगी जो विवेक के साथ की जाय। विवेक परीक्षा करके यह वता देगा कि अमुक पुरुष अथवा अमुक मान्यता की अमुक अनुभूति या अमुक उपलब्धि आत्म-विकास के लिए ग्राह्य है या नही। स्वय की अर्जित ज्ञानदशा से जो वह परीक्षा होगी उसके परिणाम को लेकर ही श्रद्धा का प्रसग वनाना चाहिए। जव श्रद्धा विवेक के धरातल पर खडी होकर आगे बढेगी तव उससे फूटने वाली क्रिया भी उतनी ही समुन्नत एव प्रगतिशील होगी । श्रद्धा, विवेक और क्रिया की त्रिवेणी एक साथ रल-मिलकर वहनी चाहिए।

ज्ञान और आचरण का संगम

ज्ञान और आचरण का जब तक सगम नही होता तव तक किसी का जीवन या आदर्श अनुकरणीय भी नही वनता है। कोरा ज्ञान विशाल हो सकता है किन्तु आचरण हीन ज्ञान प्रभावशाली नही होता। ज्ञान के विना आचरण भी महत्त्वहीन ही रहता है। आज की परिस्थिति विशेष रूप मे ऐसी दिखाई देती है कि एक विद्वान् अपनी विद्वत्ता की दृष्टि मे अच्छे तर्क देता है और तत्त्वो का सुन्दर निरूपण करता है किन्तु ज्ञान के फल को वह अपने जीवन की चर्या मे कार्यान्वित नही करता है तो वह साधक या जिज्ञासु के मन मे प्रेरणा की ज्योति जागृत नही कर सकता है।

[illegible] मन [illegible] व्यक्ति के प्रति [illegible] से भर जाता है क्योंकि वह [illegible] [illegible] बुद्धि [illegible] सिद्धान्तों का सुन्दर प्रतिपादन [illegible] है [illegible] अपने जीवन में भी [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है । मन, वचन और कर्म में [illegible] होता है [illegible] प्रभावशाली [illegible] पैदा होता है । ऐसा पुरुष [illegible] जीवन में अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत कर सकता है । [illegible] [illegible] किया गया है —

"[illegible] पर उपदेश कुशल [illegible] [illegible] ।"

[illegible] परउपदेश में ही सारी [illegible] [illegible] विशेषता [illegible] [illegible] हो जाता । [illegible] व्यक्ति [illegible] [illegible] और [illegible] नहीं [illegible] । [illegible] प्रकार [illegible] और [illegible] किया जाए [illegible] कि [illegible] [illegible] है और [illegible] [illegible] रहे तो वह [illegible] अनुशासन [illegible] भी [illegible] नहीं [illegible] है । [illegible] नहीं है तो [illegible] अनुशासन [illegible] [illegible]

इन दोनो स्थितियो की मनोदशा में इतना अन्तर होता है कि दोनो का विपरीत दूरगामी प्रभाव पडता है। अंधेपन मे आपने जो कुछ माना है, चाहे वह श्रेष्ठतम तत्त्व भी है फिर भी उसके प्रति आपके हृदय मे अटल निष्ठा जन्म नही लेगी। रसगुल्ला अच्छा हो सकता है किन्तु उसका एक बार स्वाद चखे बिना उसके अच्छेपन पर निष्ठा छोडिए, विश्वास भी कैसे होगा ? किन्तु जिसे सोच-समझकर और अनुभूति पाकर ग्रहण किया जाता है उसके प्रति आस्था की स्थिति भी सुदृढ होती है, क्योकि तत्त्व के स्वरूप को हृदय मे उतारने से उसकी विशिष्टता के प्रति सच्ची श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से अन्धानुकरण से अन्ध-श्रद्धा फैलती है तो जागृत अनुकरण से सच्ची श्रद्धा जन्म लेती है।

सत्य वस्तुस्थिति तो यह है कि सच्ची श्रद्धा कभी की नही जाती है, वह तो समक्ष आई हुई विभूति के दर्शन करके अथवा आत्म को प्रेरणा देने वाले सिद्धान्त के ज्ञान से स्वयमेव हो जाती है। गुणो से प्रभावित होकर जो सच्ची श्रद्धा होती है, वह श्रद्धा ही स्थायी भी रहती है। सिर्फ बुद्धि, वाणी और तर्क के सहारे मात्र से जो पुरुष व्याख्यान देते है अथवा साहित्य का निर्माण करते हैं, किन्तु अन्तर की आँखें जिनकी खुली नही होती एवं आचरण के धरातल पर जिनका कोई प्रभावकारी अस्तित्त्व नही होता, वे सच्ची श्रद्धा के पात्र कभी नही बन सकते हैं, जैसी कि कहावत कही जाती है कि "पर उपदेश कुशल बहुतेरे।"

कथनी और करनी का भेद

ऐसे दुहरे आचरण वाले वक्ता हर क्षेत्र मे बहुत मिलेंगे जो कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। सच पूछा जाय तो ऐसे व्यक्तियो के कारण ही समाज मे दभ और मिथ्या का वातावरण प्रगाढ बनता है। पोथी के बैंगन और घर के बैंगन की कथा आप जानते होगे कि एक पडितजी ने एक व्याख्यान मे बैंगन के शाक की भरपूर निन्दा की—उसके दुर्गुण ही दुर्गुण बताये। उस सभा मे उनकी बेटी भी बैठी हुई थी। उसने सोचा कि घर मे रोज बैंगन का शाक बनता है सो आज से उसे बन्द करा देना चाहिए। इसलिए वह जल्दी से उठकर पहले घर पर पहुँची और माता जी से बोली कि अब घर मे बैंगन का शाक मत बनाओ आज भी नही और कभी नही। माँ ने वह शाक नही बनाया। पडित जी जब घर आये और थाली मे बैंगन का शाक नही देखा तो बरस पडे कि उनका प्यारा शाक क्यो नही बनाया ? इस पर पुत्री ने कहा कि आपने ही तो उसके भारी दोष बताये थे इसलिए मैंने बैंगन का शाक नही बनाने दिया है। तब पडितजी ने हँसते हुए कहा कि पगली, पोथी बैंगन अलग होते है जो कहने के होते हैं, मगर घर के बैंगन तो खाने के होते है। ऐसा आचरण अनुकरणीय तो नही होता किन्तु भावुक लोगो को समय

किन्तु उसको सर्वथा हृदयंगम करके ही उसका भी श्रद्धा एवं विवेक के ९। आपको अनुकरण करना चाहिए।

श्रावक की लाक्षणिकता

'श्रावक' शब्द भी लाक्षणिक है। श्रावक शब्द का 'श्र' श्रद्धा का प्रतीक है। श्रद्धा आत्म-कल्याण का मूल है। 'व' का अर्थ है विवेक याने श्रद्धा अधी नही होनी चाहिए। वह जब विवेक से युक्त होगी तब उसका रूप जागृत ही होगा। विवेक जहाँ है वहाँ हिताहित का चिन्तन है और वैसी स्थिति मे परीक्षा बुद्धि का अस्तित्त्व भी बराबर रहता है। और 'क' सकेत है क्रिया का। श्रद्धा और विवेक के साथ की गई क्रिया ही आत्मा को उसके चरम तक पहुँचा सकती है। इस प्रकार श्रावक धर्म श्रद्धा, विवेक और क्रिया रूप त्रिवेणी का प्रतीक रूप धर्म है जो वीतराग वाणी द्वारा प्रतिपादित किया हुआ है।

वर्तमान युग मे भौतिक विज्ञान की प्रगति को देखकर सभी उसकी ओर आकर्षित होते है और उस जोश मे अध्यात्मवाद की मौलिकता एव वैचारिकता का चिन्तन करने से कतराते हैं। युवक और प्रबुद्ध वर्ग भी भौतिक विज्ञान से ही प्रभावित है। इसमे कोई संदेह नही कि बडे-बडे अनुसधान एवं अन्वेषण सफल बनाकर विज्ञान ने सबको आश्चर्य मे डाल रखा है लेकिन जहाँ प्रयोगात्मक विधि से विज्ञान का विकास सभव है वहाँ आत्म-विकास की सूक्ष्म रेखाओ मे चलते हुए चैतन्य का विकास करना अपेक्षाकृत अति कठिन है। आज का मनुष्य यह सोचने का कष्ट नही करता है कि भौतिक विज्ञान का पिता कौन है ? पुत्र को देखकर सारी दुनिया प्रसन्न हो रही है लेकिन यह पुत्र आया कहाँ से ? अगर ज्ञान नही होता तो विज्ञान कहाँ से आता ? विज्ञान पुत्र है तो उसका जनक है चैतन्य। चैतन्य की कोख से ही ज्ञान और विज्ञान का जन्म होता है तो समझने की बात है कि आध्यात्मिक ज्ञान और भौतिक विज्ञान मे विभेद नही है बल्कि पिता-पुत्र का संबध है।

भौतिक विज्ञान के प्रति भी लोगो मे जो एकाकी निष्ठा फैल रही है वह अन्धानुकरण का रूप लेती जा रही है। भौतिक विज्ञान ही श्रेष्ठ है—ऐसा कहने वाले यह नही देखते कि आत्मा और आत्म-ज्ञान के बल पर ही भौतिक विज्ञान का विकास हुआ है। दोनो मे से जब मूल पक्ष की उपेक्षा की जाती है तो वैसा अन्तर की आँखो के नही खुलने से ही होती है। भौतिक विज्ञान तो अभी भी विकासशील है और अभी वह प्रौढावस्था मे नही आया है। किन्तु यह चैतन्य तो अनन्त शक्ति से सम्पन्न होता है और उसके चरम को प्राप्त करना पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। परमात्मा की उस शक्ति का दर्शन भौतिक विज्ञान की सामर्थ्य मे नही है।

आत्मा की शक्ति ही प्रधान होती है जो चेतना और विज्ञान—दोनो क्षेत्रों मे

सशक्त रूप से प्रगति की प्रेरक बनती है। भौतिक विज्ञान के विकास मे प्रयोग का रहा। किन्तु प्रयोग मे रत रहने वाला और उसमे निरन्तर श्रम करने वाला दृढ मन होता जाता है। और यह मन क्या है? चैतन्य का ही तो एक सबल अंग। फिर कैसे कहा जाता है कि भौतिक विज्ञान का क्षेत्र आत्मशक्ति से परे है। जैसे विद्युत् शक्ति पावर हाउस में संग्रहीत रहती है और वहाँ से वह बिजली के बल्ब मे समाती है तो शीशे का प्रकाश देती है और उसी बिजली से कई प्रकार के उद्योग आदि चलाये जा सकते है तथा उपयोगी पदार्थों में उससे काम लिया जा सकता है। उससे कारखाना भी चलता है और उससे दाह-क्रिया भी की जाती है। किन्तु जरा-सी असावधानी से किसी के लग जाय तो जला डालती है तो जान भी ले लेती है। ऐसी खतरनाक शक्ति को नियन्त्रण मे रखकर चलाने वाला कौन है? क्या वह चैतन्य नही है? ए जिन को भौतिक विज्ञान कहते है तो उनका चालक चैतन्य ही हो सकता है।

इस विश्लेषण का अभिप्राय यह है कि अनुकरण की वृत्ति मे ज्ञान की स्पष्टता रहे और उसके अनुरूप दोनों क्षेत्रों के समन्वित स्वरूप से जीवन विकास की सही धारणा बनाई जाय। भौतिक विज्ञान की शक्ति को देखने के बाद आत्मा के अस्तित्व का स्पष्ट अनुमान होता है। और जितना अन्तर को स्वार्थ रहित एव विकार रहित बनाया जायगा, उतनी ही तीव्र रूप से उस आत्मिक शक्ति का विकास होगा जो आध्यात्मिक एव भौतिक दोनो क्षेत्रो मे समान सफलता के साथ उन्नति कर सकती है।

देहरी के दीपक की वृत्ति

विनयधर के विरुद्ध षड्यन्त्र

अब सत्ता और धन-शक्ति से सम्पन्न होकर वह दलाल विनयधर सेठ के यहाँ अपना आना-जाना बढाकर उनके विश्वास को पाने की चेष्टा मे लगता है क्योकि सेठ का लोगो पर नैतिक प्रभाव बहुत था और उसमे दरार डालने के लिए पहले सेठ को ही धोखे मे लेना जरूरी था। सरल आत्मा सर्वत्र विश्वास लेकर चलती है, अतः सेठ भी शनैः शनैः उस पर विश्वास करले लगे।

यह ससार और ससार मे वरतने वाले जीवन मे बडी विचित्रताएँ नजर आती हैं जिनकी उलझन मे अगर आत्मा उलझ जाये तो उसका परिभ्रमण चक्र जटिल बन जाता है। इसीलिए अजितनाथ की प्रार्थना मे अन्धानुकरण न करने का निर्देश दिया गया है। विवेक को जागृत रखकर वीतराग वाणी को श्रद्धा के साथ अपने जीवन मे उतारें और जागृत अनुकरण का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करें—यही भावना है।

लाल भवन
२५-८-७२



समाहित नही हो जाती बल्कि उनके स्वरूप से पृथक ही रहेगी। अपने अस्तित्व को कायम रखते हुए प्रभु के उपदेश रूपी जल से वह निज को तृप्त करते हुए अपने अन्तर को ही एक दिन सरोवर बना सकती है।

जल जब तक पुरुष ने सरोवर से पिया नही, तब तक वह जल सरोवर का कहलाता है किन्तु जब उसे वह पुरुष पी लेता है तो फिर उतना जल उसका बन जाता है। आत्मा से परमात्मा के स्वरूप तक पहुँचने वाले महापुरुष अपनी वीतराग वाणी से आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं तो वह एक प्रकार से उनका उपदेश रूपी सरोवर है, किन्तु जो उसमे से अपने ज्ञान एव विवेक से जितने अश मे उपदेश को अपने जीवन मे उतार लेता है, वह साधना तब उस आत्मा की हो जाती है। बाहर से जब उपदेश श्रवण को मिलता है तब वह उपदेश पर का रहता है और वैसी दशा मे उस उपदेश से आत्मा लाभान्वित नही होती है। उसको जब आत्मसात् कर लिया जाता है तब वह अपना हो जाता है। जिसे अपना लें सो अपना और न अपनाएँ तब तक वह कितना ही अमूल्य हो, उसका कोई लाभ नही।

उपदेश प्रभु का है—अमृत तुल्य है किन्तु जब मनुष्य उसे ग्रहण करता है और अपने जीवन के साथ उसे साकार रूप देता है तब वह गुण—वह उपदेश उनका रहते हुए भी मुख्य रूप से अपने लिये अपना हो जाता है। जब तक भोजन रसोई मे है, माता के पास है तब तक बालक को तृप्ति नही होगी किन्तु जब बालक माता से भोजन प्राप्त करके उसे उदरस्थ करेगा तभी उसे तृप्ति मिलेगी। उसी प्रकार उपदेश सुन या जान लेने से आत्मोद्धार का द्वार नही खुलता है—उपदेश को जानकर और परख कर उसके बाद जब उस पर अमल करते हैं तब जीवन मे परिवर्तन का प्रारम्भ होता है।

जीवन कल्याण के कोस

ईश्वरत्व को प्राप्त किये हुए वीतराग प्रभु के इन उपदेशो के सूत्र-रूप सग्रह ही आगम के नाम से विख्यात है। ये आगम एक प्रकार से जीवन कल्याण के कोश हैं जिनमे कल्याण से सम्बन्धित ऐसी कोई सामग्री नही, जो नही मिले। आगमो की प्रामाणिकता मे अज्ञानी आत्माओ को कोई शका उपजे वह अलग बात है। लेकिन ज्ञानी आत्मा के लिये शका की कोई स्थिति नही है। कई ऐसी शंका करते हैं कि आगम तो अमुक समय मे लिखे गये, अब आज उनका क्या विशेष महत्व रह जाता है?

आगमो के रहस्य पर इसका उत्तर पाने से पहले तनिक सोचना आवश्यक है। क्या आगम वे कागज और पृष्ठ हैं जिन पर कुछ लिखा हुआ है? क्या उन अक्षरो के बाह्य रूप मे ही आगमो की महत्ता और उपयोगिता है? यह जरा सोचने की बात है। इन अक्षरो के अन्तर मे उतर कर जब इनके अर्थों का अनुसन्धान किया जायगा तो विदित होगा कि अपने दिव्य ज्ञान एव कर्मठ साधना मे जो शाश्वत पथ

आगम रहस्य की गहनता

आगमो मे समाहित ज्ञान एव रहस्य अतीव गहन है। गहन इस दृष्टि से कि कोई उसका वाचन कर ले या कुछ इधर-उधर का अर्थ समझ ले, उससे आगमो की गम्भीरता का अनुमान नही होता है। उन्हे पढने और समझने के वाद भी जब एक-एक विपय पर गहराई से मनन और चिन्तन नही किया जाय तब तक उनके गूढार्थ ज्ञानदशा मे स्पष्ट नही होते है। आपके हाथ मे आम हो और आप यह भी जनते है कि इस आम मे बहुत ही मीठा और स्वादिष्ट रस है, किन्तु आपको उसका आनन्द कब आएगा ? हाथ मे पडा रखने से या उसको चूसने से ? कल्पना करे कि उसके ऊपर-ऊपर ही जीभ फिरावें तब भी क्या स्वाद आएगा ? स्वाद तो उसके भीतर वैठ कर रस निकाल कर चूसने से ही आएगा। आगमो का रहस्य भी इसी प्रक्रिया से वोध-गम्य हो सकता है।

आगमो के रहस्य मे गहरे उतरकर आत्म-विकास एवं ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी रत्नो को प्राप्त करना है तो आगम रूप मंजूपा की कुंजी प्राप्त करिये। यह कुंजी आपको विवेक, श्रद्धा एव क्रिया की त्रिवेणी बहाने से किये गये जाग्रत अनुकरण से प्राप्त होगी। चिन्तन और मनन से जब मन अन्दर की गहराइयों मे गोते लगाएगा तब उसमे से विचार एव भाव रूप मोती अवश्य निकलेंगे। आगम का रहस्य आत्मानुभूति मे समाया हुआ है। परम शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्माभिमुख हाने की कला का ज्ञान इन्ही आगमो मे मिलेगा। मनुष्य ससार के पदार्थों एवं उनकी वासनाओ से मन को हटाकर इस चिन्तन मे उसे केन्द्रित करे कि मैं कौन हूं, मैं किस स्तर पर हूं तथा मेरा सर्वोच्च लक्ष्य क्या है तथा उसी सन्दर्भ मे परिवार, समाज एवं राष्ट्र की दशा पर विचार करे। यह चिन्तन जितना गम्भीर होगा, कुंजी भी शीघ्र प्राप्त होगी। अन्तर्ज्ञान से जितना तादात्म्य सम्वन्ध वनेगा, उतना ही आगमो का रहस्य सहज वनता जायगा।

वहिर्मुखी वुद्धि को इसके लिए अन्तर्मुखी वनानी होगी। पाँचो इन्द्रियो और मन के माध्यम से यह वुद्धि निरन्तर वाह्य वासनाओ की तरफ दौडती रहती है। इसे जब अन्दर की ओर केन्द्रित करेगे तो यह आगमो के नवीन अर्थों का अनुसधान भी कर सकेगी। पाँचो इन्द्रियो से जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान मन के जरिये से अधिक विस्तार से प्राप्त होता है और इन छाहो साधनो से प्राप्त ज्ञान को ही व्यावहारिक रूप से एक वैज्ञानिक प्रयोग मे लाता है। प्रयोग से अनुमान और अनुमान से प्रयोग, यह एक वैज्ञानिक का क्रम होता है। इसी क्रम से ही वह प्रामाणिकता की तुला वनाता है।

अनुभूति के स्थूल व सूक्ष्म क्षेत्र

भौतिक तुला का आधार वाह्य वुद्धि और तर्क होता है। जैसे हाईड्रोजन और ऑक्सिजन के मिश्रण से पानी वनता है अथवा अमुक फोर्मूले से अमुक रासायनिक

तत्त्व-चिन्तन की स्पष्टता

तत्त्व चिन्तन के सम्बन्ध मे मैं अपना ही एक अनुभव सुनाता हूँ। जब मै धार मे था तो कॉलेज के एक प्रोफेसर नियमित आया करते थे और दार्शनिक चर्चा करते थे। एक दिन वे आये और उन्होने कहा—महाराज ! आपका सापेक्ष दृष्टि का सिद्धान्त स्याद्वाद तो एक प्रकार से सशयवाद है—इसमे कोई भी निश्चयात्मक तथ्य नही है। फिर उन्होंने जगद्गुरु शंकराचार्य तथा डॉ० राधाकृष्णन के उद्धरण दिखा कर कहा कि उन्होने भी स्याद्वाद को सशयवाद ही कहा है। ऐसा उन्होंने इसलिये कहा कि उन्होंने जैनागमो का अध्ययन नही किया था।

मैंने उनकी शका का समाधान करते हुए स्पष्टीकरण किया कि आप एक बार उन पुस्तको के उल्लेख को दूर हटा कर स्वतन्त्र चिन्तन पर आ जाइये और इस छोटे से रूपक से स्याद्वाद का मर्म समझिये। रूपक है—"स्यात् अस्त्येव घट" अर्थात् कथ-चित् घडा है ही। यह 'ही' किस तथ्य का द्योतक है? निश्चयात्मकता का ही तो, फिर भी इसमे 'स्यात्' शब्द है। यह शब्द दूसरों का अस्तित्व स्वीकार करता है। स्वभाव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र एव स्वकाल की दृष्टि से तो घडा है ही। लेकिन स्यात् का अर्थ कथचित है तो पर भाव, पर द्रव्य, पर क्षेत्र एव पर काल की दृष्टि से वह घडा नही भी है—यह इस रूपक से प्रतीत होता है।

मैंने विस्तार मे समझाया कि घडा स्व पर अपेक्षया कालभाव की दृष्टि से स्वद्रव्य मे है। स्वक्षेत्र की अपेक्षा से जितना आकाश प्रदेश है और काल की अपेक्षा से घट की पर्याय मे है एव भाव की अपेक्षा से पानी भरने की स्थिति के प्रसग मे है। यह तो घडे का सद्भाव रूप अस्तित्व हुआ किन्तु वर्ण, गध, रस और स्पर्श की दृष्टि से घडे का रूप पाटिये से भिन्न है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से इस प्रकार पाटिये का घडे मे अभाव है और इस अभाव स्थिति का सूचक ही 'स्यात्' शब्द है। पाटिया नही है तो नही है, यह स्वरूप भी उस घडे मे रहा हुआ है। घडा किस रूप मे नही है कि पाटिये के रूप मे नही है, पाटिये के क्षेत्र, काल और भाव मे नही है। यह चारो दृष्टि से नही है। इस तरह यह घडा है और नहीं भी है। स्याद्वाद सिद्धान्त का यही रहस्य है जो वस्तु के एक ही रूप पर नहीं, बल्कि सभी रूपो पर सभी अपेक्षाओं से विचार करता हुआ उसके सम्पूर्ण स्वरूप को समझाता है।

प्रोफेसर साहब को यह दृष्टिकोण समझ मे आ गया। तब उन्होने कहा, कि लगता है कि शंकराचार्य और राधाकृष्णन् यदि पहले जैनागमो का अध्ययन कर लेते तो वे इस स्याद्वाद सिद्धान्त के विषय मे इस प्रकार नहीं लिखते। जर्मन विद्वान डा० अलबर्ट आइन्स्टीन ने स्याद्वाद के सिद्धान्त पर आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से सापेक्ष विवेचन किया है, जिसे मैंने उन्हें पढने का सुझाव दिया।

सज्जनों ! यह रहस्य का चमत्कार आपको विचार के क्षेत्र में और विवेक

आ रहा है कि विकारो की आँधी मे पडकर श्रीकेतु राजा का मन-मस्तिष्क कितना आन्दोलित् हो रहा है ?

विनयधर पर श्रीकेतु का शिकंजा

दूसरी ओर विनयधर सेठ का श्रेष्ठ चरित्र है जो श्रावक व्रत अगीकार किये हुए शुद्ध वृत्ति मे जीवन यापन कर रहा है। बीच के दलाल पर भी उसने अविश्वास नही किया, उसकी सरल वृत्ति मे प्रपच को स्थान ही नही था। वे तो अपनी विश्वास की तुला से ही सबको नापते थे। इसीलिये उस दलाल मे उन्होने कोई धोखा नही देखा। वास्तव मे जबकि दलाल चारो सेठानियो के शील व्रत को खडित करके श्रीकेतु राजा को प्रसन्न करने का षड्यत्र रच रहा था।

एक दिन उस दलाल ने हिसाब के कागजो के बीच मे एक ऐसा कागज रखकर बंडल सेठजी के सामने पेश किया जिस पर एक सस्कृत का श्लोक लिखा था। सेठजी संस्कृत भाषा समझते नही थे। इमने कहा कि चूँकि मैं आप के वहीखातो का हिसाब लिख रहा हूँ, आप कृपा करके इन कागजो की नकल बना दीजिये। सेठजी ने सोचा कि रोज यह मेरा काम नि.स्वार्थ भाव से कर रहा है तो आज मैं भी इसका काम कर दूँ। यह सोच उन्होने नकलें बना दी।

संस्कृत के श्लोक वाले कागज को लेकर सीधा वह महाराजा के पास पहुँचा और उस दलाल ने कहा कि षड्यंत्र का पहला चरण सफल बन गया है। वह श्लोक इस तरह का था कि जिससे सेठ कानून के दोष मे आते थे। सेठ के विरुद्ध वातावरण बनाने के लिये राजा ने नगर के कई प्रतिष्ठित नागरिको को बुलाकर सेठजी के हाथ का लिखा वह श्लोक बताया और विनयधर सेठ को बदनाम करने का काम शुरू किया। घटनाएँ आगे बढ़ेंगी लेकिन जहाँ काम, क्रोध, मान और माया के विकार आत्मा को घेरे बैठे हो, वहाँ आगमो के गूढ़ रहस्यो का ज्ञान करना तो दूर—साधारण ज्ञान प्राप्ति की स्थिति भी वहाँ कठिनता से बनती है।

मानव जीवन अति दुर्लभ होता है। यदि इस रत्न को विकारो की दगा मे काच की तरह काम लेकर नष्ट कर दिया तो वह भयकर बुद्धि हीनता होगी। इस रत्न के प्रकाश मे आगमो के गूढ रहस्यो की शोध करके ज्ञानार्जन कीजिये और अपने जीवन को सार्थक एवं धन्य बनाइये।

लाल भवन
२६-८-७२



शाश्वत मार्ग की खोज

किन्तु मूल समस्या ही यह होती है कि प्रभु के उस मार्ग की खोज कैसे की जाय ? अन्वेषण का कार्य सहज नही होता। एक विचारक हो या एक वैज्ञानिक—जब वह अपने शोध कार्य मे जुटा होता है तो वह कई विचारो का विश्लेपण करता है अथवा कई पदार्थों का परीक्षण और उसके परिणाम पर अपनी मौलिक शक्ति से अन्वेषण की नई दिशाएँ खोज निकालता है। यही विधि आत्म-विकास के मार्ग को खोजने मे भी अपनानी पडती है।

अन्वेषण की यह विधि सुगम कैसे हो—यह भी गहराई से विचारने की बात है। आज का मानव अपने आप को तार्किक बुद्धि से युक्त मानता है। यह द्वन्द तर्क और श्रद्धा के बीच उठता है कि इस विधि को सुगम एव सफल बनाने मे तर्क का योग विशिष्ट होता है अथवा श्रद्धा का। एक युग ऐसा रहा होगा जब मनुष्य न तो अति श्रद्धावान् था और न तर्क प्रधान ही। अपने मध्यस्थ जीवन से सन्तोष एव सन्तुलन के साथ वह अपना जीवन यापन करता रहा होगा। किन्तु इस परिवर्तित युग मे उसने श्रद्धा के पलडे से तर्क के पलडे को ज्यादा वजनदार बना दिया है।

श्रद्धा और तर्क के भावनात्मक इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो समझ मे आयगा कि जब कोई विशिष्ट विचार अथवा व्यक्ति समक्ष आता है तथा उसकी विशिष्टता के प्रति पूरे ज्ञान एव विवेक के साथ सहज ही मे जो हृदय प्रभावित हो जाता है—वही प्रभाव श्रद्धा का रूप ग्रहण करता है। वह श्रद्धा खुले मन और खुले मस्तिष्क की श्रद्धा होती है। वह तर्क सम्मत भी होती है, किन्तु कोरे तर्क की शुष्कता से मुक्त भी होती है। तर्क केवल मस्तिष्क को झकझोरता है और उसकी सीमाओ मे ही बँधा रहता है। इस कारण कोरा तर्क अन्तर्भावना को उभार पाने मे दुर्बल रहता है। सजग श्रद्धा मन और मस्तिष्क—दोनो को झकझोरती है तथा अपनी तरलता से समूची आत्मा को झकृत करती है।

विवेक-शून्य श्रद्धा

श्रद्धा के सहारे मनुष्य ने ऊँची से ऊँची उन्नति सम्पादित की है। किन्तु जब यही श्रद्धा अपना विवेक खो देती है और परम्परा की लकीर मे सकुचित होकर सीमाओ मे आबद्ध हो जाती है तो वही श्रद्धा अध हो जाती है और अन्धता को बढाने लग जाती है। ऐसी श्रद्धा के सहारे कई लोग विपरीत मार्ग को भी पकड लेते हैं। अत श्रद्धा के दो भेद किये जाते हैं। एक सुश्रद्धा और दूसरी कुश्रद्धा। अच्छे विश्वास के साथ अब तक इन्सान ने तरक्की की तथा बुरे विश्वास के साथ उसका पतन भी हुआ। श्रद्धा और विश्वास का वातवरण कई शताब्दियो तक चला।

किन्तु वर्तमान शताब्दी मे श्रद्धा का स्थान कुछ धूमिल सा हो रहा है। आज

तो सकेत यह मिलता है कि यदि तू पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण विशुद्धता का मार्ग खोजना चाहता है तो केवल तर्क का आश्रय मत ले। जिज्ञासा की तृप्ति के लिये तर्क को भी जगा किन्तु उस सीमा तक कि जिससे विश्वास बढे और आत्म विश्वास पुष्ट बने। कोरे तर्क को ही यदि अपनाया तो 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की नीति के अनुसार वह आत्मा की निश्चयात्मकता को नष्ट कर देगा। तर्क-वितर्क से विचारणा मे नित प्रति संशय उत्पन्न होते जायेगे और उसका परिणाम यह होगा कि उस आत्मा को अपने विकास का मार्ग न समझ मे आयगा, न दिखाई देगा। कहा भी है—सशयात्मा विनश्यति। जो आत्मा संशयो से ग्रस्त हो, उसका पतन अवश्यभावी होता है।

तर्क, श्रद्धा और विश्वास

तर्क सम्मत श्रद्धा और श्रद्धापूर्ण विश्वास का मध्यम मार्ग ही इस कारण ऐसा राजमार्ग हो सकता है जिस पर चलकर मनुष्य अपने वर्तमान जीवन की समस्याओ का समाधान भी पा सकता है और आत्म विकास की ऊँचाइयो पर पहुँचाने वाले मार्ग का अन्वेपण भी कर सकता है। बाह्य जीवन की समस्याएँ ससार से जुडी हुई है और संसार की परिस्थितियाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आत्मा की विकास गति को भी प्रभावित करती है। यदि संसार की परिस्थितियां विपम हो तो उससे आत्म साधना भी अधिक कठिन होती है बाह्य जीवन और ससार की विपमताएँ जितनी घटती है तो उसका सुपरिणाम भी आन्तरिक विकास की गति मे परिलक्षित होता है।

इस दृष्टि से आज इस तथ्य पर चिन्तन होना चाहिये कि वर्तमान जन-जीवन किस ओर जा रहा है, इसकी पतवार किसके हाथ मे है तथा किस प्रकार के मार्ग पर जीवन को लाया जा रहा है? इसके लिये न सिर्फ व्यक्ति के, वल्कि पूरे मानव समाज के सामूहिक जीवन का आद्योपान्त अवलोकन आवश्यक है। प्रत्येक मानव को ऐसी दृष्टि वनानी चाहिये। इसके लिये पुरुप या स्त्री मे कोई भेद नही है। यदि इस तरह की दृष्टि नही वनती है तो मनुष्य का जीवन लक्ष्यहीन होता जायगा। आज जिस तरीके से मनुष्य की गतिविधियां ढल रही है, मैं हृदय मे विचार करता हूं कि वे मनुष्य को वास्तव मे लक्ष्यहीन वना रही है अथवा उसका जो लक्ष्य है, वह विपरीत लक्ष्य है। विपरीत लक्ष्य के कारण ही विपरीत प्रवृत्तियां हैं और विपरीत नैतिक धरातल है। उसके वर्तमान जीवन की अस्तव्यस्तता का यही कारण प्रतीत होता है।

विचारणीय विपय यह है कि उसकी ऐसी गतिविधियां क्यो है? इस विकृति का मूल उसके अपने जीवन के अविश्वास मे रहा हुआ है। वह अपने जीवन मे विश्वास को खोता जा रहा है—नये-नये सशय उत्पन्न होते जा रहे हैं। सशय और स्थिरता मे विरोध होता है जिसका अर्थ है कि चचलता वढती जाती है। यह कितने आश्चर्य की वात है कि धर्म-स्थान मे बैठे हुए इन्सान का चित्त भी चचल हो जाता है। धर्म-वार्त्ता श्रवण करते हुए भी मन का सवरण न कर सके—यह सोचनीय दशा है।

कोरा तर्क अधिकाशत अविश्वासी, तो कोरी श्रद्धा अन्धी होती है। दोनो का सन्तुलन तथा श्रद्धा की प्रमुखता आत्म-विश्वास की गहनता को बढाती है।

आत्म-विश्वास का सम्बल

तर्क ईश्वर तक नही पहुँचता किन्तु आज मनुष्य तर्क से ईश्वर को पाना चाहता है, जिसके अभाव मे वह ईश्वर के प्रति अश्रद्धा करना शुरू करता है। इस तरह ईश्वर मे अर्थात् अपनी ही आत्मशक्ति मे वह विश्वास खोकर चंचल गति से सत्ता और सम्पत्ति के पीछे पडा हुआ है। जितनी सत्ता और सम्पत्ति को वह केन्द्रित करता है, उसकी तृष्णा और अधिक बढती जाती है। सत्ता और सम्पत्ति को वास्तव मे अपने सुख के लिये नही, दूसरो के सुख के लिये काम मे ली जानी चाहिये। किन्तु यह कब सभव हो सकता है जबकि आत्म-विश्वास का सम्बल मनुष्य ने पकड रखा हो। इसके विपरीत जब वह श्रद्धाहीन और विश्वासहीन हो तो उसकी विपरीत गतिविधियो को पनपने से कौन रोक सकता है? इस प्रकार की विकारपूर्ण परिस्थितियो मे किसी प्रकार का क्रान्तिकारी कदम उठाना भी आसानी से सभव नही होता है।

आध्यात्मिक क्रान्ति की आवश्यकता

आज देखा जाय तो आध्यात्मिक दृष्टि से व्यापक एव प्रभावपूर्ण क्रान्ति की आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने जिन आदर्श तत्त्वो का प्रतिपादन किया, उनके बल पर यह आध्यात्मिक क्रान्ति सभव है, बशर्ते कि तर्क सम्मत श्रद्धा के आधार पर अपने अन्तर मे गहरा विश्वास पैदा किया जाय। यह आत्म विश्वास अन्दर की शक्ति को न सिर्फ प्रकट करेगा, बल्कि उसे विकसित कर परम स्थिति तक भी पहुँचाएगा। यह भौतिक सत्ता और सम्पत्ति मनुष्य का कल्याण करने वाली चीजें नही है। मैं नही कहता कि सभी इन्हे छोडकर साधु बन जाएँ तो श्रेयस्कर ही है। फिर भी मेरा कहना है कि इनको सिर पर बिठाकर चलने की स्थिति मत पैदा कीजिये। सत्ता और सम्पत्ति मे भरोसा करने का मतलब है कि आपको अपनी आत्मा मे विश्वास नही है। जब आत्मा मे विश्वास नही होता तो ये सत्ता और सम्पत्ति सिर पर ही बैठती है और ऐसी स्थिति वास्तव मे हास्यास्पद ही होती है।

इसके सम्बन्ध मे आपको एक दृष्टान्त दूँ कि एक व्यक्ति ने नई खूबसूरत साईकिल खरीदी। उसने सोचा कि रास्ते पर चलाने से तो साईकिल धूल से खराब हो जायगी इसलिये वह अपनी साईकिल को सिर पर उठाकर चलने लगा। ऐसे व्यक्ति को यदि आप देखें तो क्या कहेगे? सटाक से पागल कह देंगे, किन्तु इसी स्वरूप का अपने मे आप देखने की कोशिश नही करते और देखकर भी सावधान नही होते। सत्ता और सम्पत्ति पर-हित करने के साधन हैं—साईकिल की तरह उन पर बैठकर चले किन्तु जब सत्ता और सम्पत्ति को सिर पर चढाकर स्वय के आत्म-विश्वास को उनके तले पर आप रौंदते हैं तब भी क्या आप अपने आपको पागल कहते हैं?

विश्वास का संकट दूर करें

विश्वास का सकट तभी मिटेगा, जब कोई कभी भी आत्म-द्रोह नही करना चाहेगा। जब भरपूर विश्वास होगा—अपने आप पर और सब पर, तो अनैतिकता टिक नही सकेगी। जैसे एक परिवार होता है, उसमे यदि सभी सदस्य ईमानदार और विश्वस्त है तो न किसी का किसी के प्रति सशय होगा एव न कोई किसी बात को किसी से छिपायगा। विश्वास भरी ऐसी अवस्था मे सबका जीवन भी सुखमय होगा तथा सबके बीच शान्ति व सन्तोष भरे सम्बन्ध भी बने रहेगे। अविश्वास और सशय मे भटके परिवारो की दु खपूर्ण स्थिति अधिकाशत देखने मे आती ही है। समाज, राष्ट्र एवं विश्व की स्थिति इसी के व्यापक सदर्भ मे ली जा सकती है। सभी स्तरो पर असन्तोष का जो अधड चल रहा है उसके मूल मे यही अविश्वास है जो किसी को दूसरे के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ होने से रोकता है और सकट को सर्वत्र फैलाता रहता है।

मैं सोचता हूं, यह मूल मे बुराई है, जड मे ही बीमारी है। तभी तो सारा स्वरूप बिगड रहा है और जब ऐसी विकृति फैलती है, तब क्रान्ति ही उसका निदान होती है। आज भी ऐसी क्रान्ति का मूलाधार समता दर्शन पर स्थापित किया जा सकता है। प्रत्येक विचार और आचरण मे सत्य ही समता दर्शन का प्राण होता है जिसके द्वारा विकारो को नष्ट किया जा सकता है। भगवान् महावीर ने ऐसा ही किया था तथा महात्मा बुद्ध ने भी इन्ही विचारो को प्रशस्त किया। इनसे २०० वर्ष पूर्व एक झरनिया नामक व्यक्ति का नाम भी इतिहास मे आता है, जिसने व्यक्ति और समूह के जीवन मे परिवर्तन लाने के लिये शान्त क्रान्ति का मत्र दिया। इसी सदर्भ मे मैं सन्त विनोबा भावे के उन शब्दो को दुहराता हूं जो उन्होने पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज साहब के समक्ष कहे थे कि जैनियो की संख्या भले ही कम हो किन्तु उनके अहिंसा, सत्य, सापेक्षवाद और अपरिग्रह के सिद्धान्त अवश्य ही दूध मे मिश्री की तरह विचारो मे घुलते जा रहे हैं। विनोबा जी ने यह भी कहा था कि अगर इन सिद्धान्तो का पालन जैनी लोग निष्ठा से करने लगें तो उनका चरित्र आज के विकृत विश्व मे नई चमक से भर उठे।

परखने और चलने का तालमेल

जब ऐसे क्रान्तिकारी सिद्धान्त हमारे सामने हो, ईश्वरत्त्व को प्राप्त किये महापुरुषो के पदचिन्हो वाला पथ भी हमे दिखाई दे, तब भी सिर्फ तर्क के नाम पर हम तर्क करते चलें और हृदय की आस्था से उन्हे समझने का प्रयास न करें तो जीवन मे क्रान्ति का आविर्भाव कैसे हो सकता है? तर्क परखने की कसौटी है, चलने का सम्बल नही—वह तो श्रद्धा होती है जो चलने की प्रेरणा भी देती है और कर्मरत होने का पुरुषार्थ भी जगाती है। इसी विधि से अविश्वास और सशय का घना अन्धेरा

आत्मा और शरीर का गति-भेद

"जे ते जीत्या ते मुझ जीतिया रे ....."

भगवान् श्री अजितनाथ के 'पथडे' याने मार्ग को खोजने की बात चल रही है। यह मार्ग कोई द्रव्य मार्ग नही है, आत्म-विकास का सूक्ष्म मार्ग है। मनुष्य दो प्रकार से गमन करता है—एक तो बाहर की विधि से तथा दूसरे अन्दर की विधि से। द्रव्य मार्ग पर पाँवो से चला जाता है, किन्तु आत्म-विकास के मार्ग पर मन और आत्मा की दृष्टि से चलना होता है। पाँवो से चलने के लिए मार्ग का अन्वेपण चर्म चक्षुओ की सहायता से होता है। जब मनुष्य अपनी नजर फैलाता है तो सामने सडक, कच्चा रास्ता या पगडण्डी देखकर उसके सहारे आगे बढता है। इस स्थूल मार्ग को खोजना तथा शरीर को उस पर चलाना तो सहज है किन्तु दिव्य-मार्ग का अन्वेपण करना एवं उस पर आत्मा की समस्त गति-विधियो को चलाना कठिन कार्य होता है। इसे ही साधना का नाम दिया हुआ है।

शरीर की गति और आत्मा की गति भिन्न-भिन्न है या एक ? इसी मे आत्म-विकास का रहस्य छिपा हुआ है। स्वरूप की दृष्टि से शरीर जड है और आत्मा चेतन तथा आत्मा के सद्भाव से ही शरीर प्राणवान् बनता है या बना रहता है तो वस्तुस्थिति यही रहनी चाहिये कि शरीर का नियन्त्रक आत्मा हो। किन्तु जड के संसर्ग से आत्मा मे भी जडत्व समाता है और सासारिक व्यामोहो मे पडकर यह आत्मा भी शरीर-सुख के नियंत्रण मे पड जाता है। सासारिक आत्मा और मुक्तात्मा के स्वरूप का यही प्रमुख अन्तर होता है और इस कारण यही प्रमुख समस्या भी होती है कि कैसे शरीर अर्थात् जीवन की समस्त गतिविधियाँ आत्मानुभूति मे नियन्त्रित हो और कैसे आत्मा अपने सर्वोच्च विकास का अन्वेपण कर ले एवं अपना सत्पुरुपार्थ जगा कर उस पर दृढता से और अविचल गति से गमन करे ?

ही आत्मशक्ति दुर्बल होती जाती है। विगति की ओर चलने पर आत्मा अपने सच्चे सामर्थ्य को दबाती है तथा शारीरिक सुख के व्यामोह मे प्रलुब्ध बनती है। आत्मा की ऐसी दशा उस कैदी की दशा से मेल खाती है जो अपनी दुर्दशा को समझते और उससे मुक्त होने की इच्छा रखते हुए भी उसमे मुक्त नही हो पाता है। यद्यपि शक्ति आत्मा की ही होती है, किन्तु उसकी वह दशा विपय-विकारो की परतत्र दशा होती है। जिस अवस्था मे परतत्रता हो, आत्मा 'अजित' नही वन सकती और ऐसी परतत्र अवस्था मानव जीवन के वास्तविक विकास की दृष्टि से हितावह नही होती है।

परतत्रता की इस विगति मे ससार की आत्माएँ चल रही हैं। अधिकतर आत्माएँ अपनी विगति से बेभान हैं और इस विगति को ही सुख मानकर भ्रान्तियो मे लुढकती रहती है तथा जन्म-मरण के चक्र मे डोलती रहती हैं। किन्तु कुछ आत्माएँ ऐसी भी होती है जो अपनी इस परतत्रता को महसूस करती है और उससे छुटकारा पाने की अपनी अभिलाषा भी बनाती हैं। ऐसी आत्माएँ ही तब विश्वास और पुरुषार्थ जगाती है तथा अपने विकास के मार्ग को खोजने मे प्रयास-रत बनती हैं।

दिव्य मार्ग पर गति

इस दृष्टिकोण से आध्यात्मिक मार्ग पर भरोसा रखने वाली भव्य आत्माएँ प्रभु के चरणो मे प्रार्थना के रूप मे आत्मा-निवेदन प्रस्तुत करने के लिये उपस्थित होती हैं तो वे यही चाहती है कि हे भगवन्! ये बाहर के रास्ते बतलाने वाले तो अनेक मिल जायेंगे—बे पढा और पिछडा हुआ आदमी भी अपने उपयोग के रास्तो की याहिती रखता ही है, और वे रास्ते वह भी दूसरो को बतला सकता है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से अजेय मार्ग का पता मिल सके तथा उस पर चलते हुए आत्मा को कोई डिगा न सके, आत्मा की अनन्त शक्ति के विकास पर कोई कुठाराघात न कर सके, आत्मा के पवित्र स्वरूप को कोई मलिन न बना सके, राह मे उसे काम, क्रोधादि विकारो के लुटेरे लूट न सकें—ऐसा निर्विघ्न मार्ग भगवान् ने दर्शाया है और वह मार्ग उन्हे दीख जाय। भव्य आत्माओ की जब ऐसी अभिलापा बनती है तो वही तीव्र बनकर उन्हे त्याग एव पुरुषार्थ की दिशा मे आगे बढाती है।

इस दिव्य मार्ग पर चलने वाली आत्मा उसे दिव्य नयनो से ही देखती है। दिव्य नयन अन्तर शक्ति के नयन होते है जिनकी ज्ञान दृष्टि दिव्य दृष्टि का निर्माण करती है। चर्म चक्षु इस मार्ग को नही देख सकते हैं। यह उनकी गति से परे है। आध्यात्मिक मार्ग को देखने के लिये अन्तर की आँखे खुलनी चाहिये। ये दिव्य नेत्र ही आत्म-स्वरूप को दर्शाते है एव उसके विकास का मार्ग खोजते है। किन्तु जब ऐसे दिव्य नेत्रधारियो को कोई खोजने निकले तो उसका हृदय कई वार हतोत्साहित

समता दर्शन की इस पृष्ठ भूमिका मे सिद्धान्त और व्यवहार के तालमेल को समझना होगा और उस ज्ञान के साथ यदि जीवन मे समता दर्शन का यत्किंचित् स्वरूप उतरे तो जीवन की समग्र परिभाषा आगे के लिए ठीक तौर से व्यवस्थित बन जायेगी। इसी स्वरूप को व्यवस्थित करने के लिये लाक्षणिक दृष्टि से श्रावक की व्याख्या की गई है। आत्म-विकास के मार्ग को खोजने वाले व्यक्ति मे आत्मा और शरीर का गति-भेद दूर करने के निमित्त से कौन-सी भूमिका होनी चाहिये, कैसी योग्यता व गुणवत्ता होनी चाहिए—इसका क्रमिक निरूपण श्रावक धर्म मे किया गया है।

शरीर की गति को नियंत्रित करके आत्मा की शक्ति को प्रस्फुटित करने की दिशा का पहला कदम व्रत और त्याग से प्रारम्भ होना चाहिये। अगर व्रत ग्रहण करने और त्याग धारण करने का स्वभाव नही है तो वह समता जीवन दर्शन का साकार रूप नही पकड सकेगा और न ही आत्मा की गति को सुव्यवस्थित बना सकेगा। भले ही उसका दृष्टिकोण सम बन जाय किन्तु व्रत के बिना आचरण का चरण आगे नही बढ सकेगा। किसी को दिल्ली जाने का मार्ग मालूम हो जाय और विश्वास भी पैदा हो जाय कि उस मार्ग से अवश्य ही दिल्ली पहुँचा जा सकेगा, फिर भी अगर कोई उस दिशा मे चलने का पुरुषार्थ ही नही करे तो क्या वह दिल्ली पहुँच सकेगा?

व्रत ग्रहण का महत्त्व

व्रत ग्रहण इस दृष्टि से आत्मा-विकास के लिये किये जाने वाले सत्पुरुषार्थ का प्रथम चरण होता है। समता का अर्थ-सम्बन्ध लेना एक बात है, लेकिन उसका धर्म-व्रत धारण करने के लिये निरन्तर रूप से आना चाहिये। यदि वह नही आता है तो मानव अपने जीवन क्षेत्र मे अधूरा ही रह जाता है। मगध देश के सम्राट श्रेणिक का शास्त्रो मे प्रसंग आता है कि उन्होंने समता का प्रयास तो पूरा किया किन्तु व्रत ग्रहण करने का स्वभाव वे नही बना पाये। इस स्थिति मे एक बार उन्होंने महावीर प्रभु से निवेदन किया कि यदि इस समय मेरी मृत्यु हो जाय तो मेरी गति क्या होगी? प्रभु ने बेझिझक कहा कि तुम्हारी आत्मा नरक गामिनी बनेगी। श्रेणिक को आश्चर्य हुआ तो उन्होंने समझाया कि तुम्हारे मे व्रत ग्रहण की क्षमता का अभाव होने से आचरण शिथिल रहता है, कोई पुरुषार्थ नही बनता है तथा बिना आचरण एवं पुरुषार्थ के लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है?

पुरुषार्थ का श्रीगणेश व्रत ग्रहण से होना चाहिये। यदि ऐसा स्वभाव नहीं है तो इसे बनाने की क्षमता मनुष्य को पैदा करनी चाहिये। मानव यदि पुरुषार्थ करे तो इस विश्व मे उसके लिये असंभव कुछ भी नहीं है। पुरुषार्थ करने पर भी अगर उपलब्धि नहीं हो तो उसके लिये इसका आलम्बन लिया जा सकता है कि सद्

लेने की आपकी इच्छा नही है किन्तु ऐसा कपट व्यवहार आपने क्यो किया ? वकील साहब वोले तो क्या वोलें ? किन्तु यह अन्दर-वाहर का भेद समार मे खूब चलता है और उसे होशियार कहा जाता है।

यह अन्दर-वाहर का भेद ही मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार मे छाया रहता है, सरल व्यवहार की जगह कपट व्यवहार किया जाता है, तव उतना ही भेद शरीर और आत्मा की गति मे भी वढता जाता है। सरल व्यवहार को ममतादर्शी की चौथी आवश्यकता इसी कारण वताया गया है। जन-मानस मे अगर सरल व्यवहार की क्षमता वनने लगे तो कई प्रकार के दोप तो स्वत: ही नष्ट होने लगेंगे। आज का चारो ओर का व्यवहार इतना कपटपूर्ण वना हुआ है कि कोई यदि सरल व्यवहारी वनने का प्रयास करता है तो दुनिया उसे वुद्धू कहने लगती है। किन्तु जिसने समता दर्शन की साधना की है, वह न तो ऐसे किसी अन्य को वुद्धू कहेगा और न स्वय ऐसी कटु वात कहने वाले से विक्षुब्ध ही होगा।

महात्मा गाँधी के सरल व्यवहार का और वह भी राजनैतिक क्षेत्र का उदाहरण तो सवके सामने है। किसी वात को न वे छिपाते थे और न सत्य कहने से डरते थे। यह उनका सरल व्यवहार ही उनकी प्रतिष्ठा का मूल कारण था। अंग्रेजी सरकार के कपष्टपूर्ण व्यवहार के वावजूद भी उन्होने अपने सरल व्यवहार मे कभी परिवर्तन नहीं किया। आज मनुष्य भले ही अपने मन मे इसको होशियारी समझे कि मैं कैसी चतुराई और चालाकी से उत्तर देता हूं, लेकिन धूर्तता का पर्दा कभी भी फटे विना नही रहता है। इस कारण सरल व्यवहार का अपना अति विशिष्ट महत्व होता है।

सरल व्यवहार ही समता दर्शन का प्रवल वाहक वनता है और यही शरीर तथा आत्मा के गति-भेद को न्यूनतम वना सकता है। भावना और आचरण की सरलता उनकी एकरूपता को स्थापित करती है। वह जैसा सोचता है, वैसा कहता है और जैसा कहता है, वैसा करता है—कही भी व्यवधान नही—गोपनीय नही, तव क्या आत्मा की स्वस्थ गति के विरुद्ध शरीर अनुशासन हीन गति कर सकता है ? यह तो कपट व्यवहार ही होता है जो दुरंगापन पैदा करता है। इसलिए समता जीवन को वनाने तथा वढाने के लिए यह गुण जरूरी है कि वह सरल व्यवहारी हो तथा सेवा-भावी भी। इसके साथ-साथ वह प्रवचन कुशल हो और प्रभावक प्रवचन वाला हो। ऐसी स्थिति मे उसकी प्रतिष्ठा एवं प्रामाणिकता मे अतिशय वृद्धि होती जायगी।

काम के वशीभूत श्रीकेतु राजा

सद्‌गुणो को ग्रहण करके जो अपने जीवन मे उतारता जाता है, उसके जीवन मे पवित्रता का विस्तार होता रहता है और उसी मात्रा मे समता दर्शन का स्वरूप भी प्रकाशमान होता चला जाता है। कथा भाग मे आप सुन रहे हैं कि ऐसा ही समतामय,

सद्‌गुणी एव एकरूपता वाला जीवन था विनयधर सेठ का। किन्तु महाराजा श्रीकेतु विकार के वशीभूत होकर सेठ-पत्नियो को अपनी शय्या-शायिनी बनाने के कुचक्रो मे चलने लगे। ऐसा ही दलाल उन्हे मिल गया जिसने प्रपच करके सेठ के हस्ताक्षरो से लिखा एक श्लोक राजा को लाकर दिया और उसे प्रमुख नागरिको की सभा मे राजा ने व्याख्या के लिए इस कारण प्रस्तुत किया जिससे विनयवर सेठ के चरित्र पर लाछन लगे। वह श्लोक विकारी भावना से सम्बन्धित था। उसमें एक विकृत चरित्र वाला व्यक्ति पर-स्त्री मे प्रति वियोग सन्ताप को व्यक्त करते हुए वर्णित किया गया था। पडितो द्वारा श्लोक का ऐसा अर्थ सुनकर राजा ने नकली क्रोध दिखाते हुए नागरिको से कहा कि जिसे आप अब तक सदा चरित्र भूपण कहते आये हैं, असल मे उसका ऐसा दुष्चरित्र है तो उसे क्यो नही दण्डित किया जाय ?

श्रीकेतु के इस प्रस्ताव के विरुद्ध कई नागरिको ने मामले की पूरी जाँच करने का निवेदन किया कि क्या सेठ ने इसे वास्तव मे ही किसी परस्त्री के लिए लिखवाया है अथवा इसके पीछे कोई प्रपच है। किन्तु राजा ने अपने प्रभाव से काम लिया जिससे विषय पर विवाद बढ गया। श्रीकेतु किसी भी प्रकार विवाद पर निर्णय लिखवाने का प्रयास करते है किन्तु मूल बात यह है कि जो कपटपूर्ण व्यवहार करता है याने कि अन्दर कुछ और है तथा बाहर कुछ और—उसका भाडा आखिर मे तो फूटता ही है, किन्तु बीच मे उसकी धूर्तता भ्रान्ति तो पैदा कर ही देती है। यही भ्रान्ति धूर्त की पूँजी होती है।

आत्मा की गति और शरीर की गति मे भेद जितना अधिक होता है, वहाँ उतना ही अधिक दम्भ, कपट एव धूर्तता भरा व्यवहार भी दिखाई देगा। सरल व्यवहार ही इस गतिभेद को दूर करता है और इस गति भेद के घटते जाने मे ही आत्म विकास का मार्ग निष्कण्टक एव निर्विघ्न बनता जाता है। शरीर की गति जब आत्मा की गति का अनुसरण करेगी तब आन्तरिक शक्ति का उद्‌भव होगा, वह निरन्तर अभिवृद्ध होती हुई मूल स्वरूप को प्रदीप्त करने लगेगी।

समता दर्शन—एक समूची जीवन-पद्धति

समता दर्शन जीवन के प्रवाह को इसी प्रदीप्त दिशा मे मोडना चाहता है। समता दर्शन—एक समूची जीवन-पद्धति है जो मनुष्य के सामाजिक एव आन्तरिक विकास के स्वरूप को स्पष्ट बनाती है। शरीर और आत्मा की गति मे एकरूपता का अर्थ है—बाह्य और अन्तर की गति मे एकरूपता, विचार, वाणी और कर्म की एकरूपता एव ज्ञान, श्रद्धा तथा चरित्र की एकरूपता। वास्तव मे यही एकरूपता आत्म-विकास का सच्चा मार्ग है। सरल व्यवहार से पनपती हुई यह एकरूपता जब अपनी उत्कृष्ट श्रेणी मे पहुँचती है तो वह आत्मा और परमात्मा की एकरूपता को स्थापित कर देती है। समता दर्शन का यही चरम लक्ष्य है।

भगवान् श्री अजितनाथ का आदर्श 'पथडा' यदि खोजना और निहारना है तो उसके लिये शरीर की कैद से—अर्थात् भौतिकता की कैद से आत्मा को मुक्त कराना ही होगा, क्योकि जव भौतिकता का नियन्त्रण होता है तो विकार फैलते हैं और जव आत्मा या आध्यात्मिकता का नियन्त्रण होता है तो भौतिकता भी परहित का कारण वन जाती है। इस कारण आत्म-नियन्त्रण की स्थिति को वढाने की आवश्यकता है, क्योकि इसी से सम्यक् निर्णय लेने की क्षमता वढेगी और समतामय वातावरण की रचना होगी। भगवान् का मार्ग इसी दिव्य दृष्टि से दिखाई देता है।

लाल भवन
२८-८-७२



● आत्म-शक्ति का मूल

"काल लब्धि लई पंथ निहालशू रे ··· "

भगवान् श्री अजितनाथ की प्रार्थना के माध्यम से आत्म-विकास के मार्ग के अन्वेषण की दिशा मे विचार चल रहा है। इस मार्ग को सही तरीके से देखने के लिए विभिन्न तरीको का इसमे उल्लेख आया है जिनमे अनुकूल एव प्रतिकूल परिस्थितियो का सामना करना पडता है। उनसे सघर्ष करते हुए अग्रसर होने का सकेत के रूप मे कहा गया है कि तन्द्रा की तारतम्यता और वीतरागदेव की वाणी के अवलम्बन के वाद भी यदि सम्यक् रूप से आत्मशक्ति प्रस्फुटित नही होती है, तव भी हतोत्साहित होने की स्थिति नही आनी चाहिए।

आत्मा अनन्त शक्ति की धनी होती है और वह शक्ति कही वाहर से मिलने वाली नही है। वह तो अपने अन्दर ही है। जो अप्रकट शक्ति है—उसे प्रकट करने, विकसित करने एव पूर्णत प्रकाशित करने का प्रश्न है। इस हेतु कई साधनो का अवलम्वन लिया जा सकता है। दिव्य महात्माओ का सयोग मिलता है, किन्ही को तीर्थङ्कर का निमित्ति भी मिल जाता है, फिर भी जव उस शक्ति की अभिव्यक्ति नही होती है तव कई आत्माओ मे एक निराशा सी छा जाती है, किन्तु ऐसी वृत्ति उचित नही है। निराशा के साथ ये आत्माएँ ऐसी धारणा भी वना लेती हैं कि महात्माओ एव तीर्थङ्कर का निमित्त मिल जाने पर भी अन्तर्शक्ति प्रकट नही हुई तो फिर निमित्त का कोई महत्व नही है। यह धारणा भी भ्रान्तिमूलक है।

कार्य, कारण, उपादान और निमित्त

किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए कारण रूप उपादान भी होता है और निमित्त भी सहायक वनता है। जो हताशा मे निमित्त को निरुपयोगी मानकर उपादान को ही सव कुछ मान लेते हैं तो वह भी उचित नही है। उपादान ही सव कुछ हो तो उपादान रूप आत्मा की शक्ति तो आत्मा मे अनादि काल से विद्यमान थी, है व रहेगी, फिर उसकी अभिव्यक्ति क्यो नहीं होती है ? ऐसा क्यो वना रहता है

कि वह शक्ति दवी रहती है और आत्मा संसार के झंझावातो मे इधर-उधर लुढकती रहती है ?

वास्तव मे एकान्त दृष्टिकोण किसी भी तत्त्व को समझने मे और सम्यक् रूप से समझने मे सहायता नही देता । एकान्त दृष्टिकोण जब आता है तो वह मनुष्य को एकागी बना देता है । जब मनुष्य दोनो नेत्रो की बजाय एक ही नेत्र से देखना शुरू करे तो दूसरे की उपेक्षा स्वस्थ दृष्टि प्रदान नही करेगी । इस कारण सिर्फ उपादान को महत्वपूर्ण कहना और निमित्त को उपेक्षा करना समीचीन नही है । उपादान और निमित्त दोनो का अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना महत्व है । निमित्त कितना ही श्रेष्ठ हो, किन्तु उपादान की योग्यता न हो तो निमित्त क्या कर सकता है ? कारीगर कितना ही कुशल और चतुर हो, पर साधन-सामग्री उपयुक्त नही हो तो वह कोई रचना नही कर सकेगा । इसी प्रकार साधन-सामग्री श्रेष्ठतम हो और कारीगर मूर्ख हो तो उससे भी कुछ बनने वाला नही है ।

सही स्थिति यह है कि केवल उपादान और निमित्त—दोनो का समन्वय हो जाना भी पर्याप्त नही है । उपादान और निमित्त के साथ-साथ अन्य भी कुछ कारणो की अपेक्षा होती है और उस अन्य साधन-सामग्री को भी सामने रखकर ही इन्सान भगवान् के मार्ग पर चले तो कार्य को सम्पन्न कर सकता है । इसीलिये प्रार्थना मे कहा गया है कि—

काल लब्धि लही पथ निहाल शूं रे
ए आशा अवलम्ब ।
ए जन जीवे रे जिनजी जाणजो रे
आनन्दघन मत अम्ब ।

जहाँ तीर्थ कर सरीखा प्रबल निमित्त मिलने पर भी और उपादान रूप आत्म-शक्ति के अन्दर विद्यमान होने पर भी यदि आत्मिक ज्योति प्रज्वलित नही हुई है तब भी निराशा का प्रश्न नही है क्योकि काल (समय) के पके बिना भी लब्धि नही होती है और इस कारण समय की प्रतीक्षा करने का भी इसमे निर्देश दिया गया है । ज्ञानीजनो का सम्पर्क एव त्यागियो की उपस्थिति जीवन मे एक आन्तरिक उल्लास को व्यक्त करने के सबल कारण होते है और वह उल्लास उपादान की शक्ति है । लेकिन अवरोध के रूप मे जो मिथ्यात्व मोह-कर्म के पिंड अवस्थित रहते हैं, वे उपादान की अभिव्यक्ति मे बाधक बन जाते है । तब बाधा को क्षय किए बिना उपादान के साथ निमित्त की सफलता सभव नही बनती है ।

कर्म-पिण्डों को क्षय करें

इन बाधक तत्त्वो याने कि कर्म-पिडो को क्षय करने का प्रयास प्रथम आवश्यक होता है और जितने अधिक ये कर्म जोरावर और मजबूत होते है, उतना ही

प्रयास कठिन और कर्मठ करना पड़ता है। भव्य प्राणी जब यह कठिन पुरुषार्थ करते हैं तो काल धर्म पकने पर ये बाधक तत्त्व भी नष्ट हो जाते हैं, तब निमित्त की सफलता भी दीखती है और आत्म-शक्ति की अभिव्यक्ति भी होने लगती है। यह काल-अवधि कर्मों की अवधि होती है और इसी कारण कवि ने हतोत्साहित नहीं होने का निर्देश किया है। जिस रोज इन कर्मों की अवधि पकेगी उस रोज ये अवश्य ही हिलेंगे और नष्ट होगे, इसलिए पुरुषार्थ का क्रम बराबर जारी रखना चाहिए। इस पुरुषार्थ मे बाधक तत्त्वो को दूर करना भी शामिल है तथा निमित्त का सदुपयोग करना भी शामिल है। पुरुषार्थ मे रत रहते हुए धैर्य से प्रतीक्षा की जायगी तो एक दिन आत्म-शक्ति की सम्पूर्णत अभिव्यक्ति सुनिश्चित है। कभी कोई भाग्य के भरोसे बैठे रहने की कोशिश करते हैं तो उनके लिए ज्ञानी जन कहते हैं कि तू प्रमाद मत कर और समय मात्र के लिए भी प्रमाद मत कर तथा काल-लब्धि का सहारा लेकर भी अपने सत्पुषार्थ मे जुटा रह। तब जीवन-ज्योति का दर्शन अवश्य ही मिलेगा।

मैं सोचता हूँ कि सबके लिए यह पुरुषार्थ ही सच्चा मार्ग-दर्शक बन सकता है, किन्तु कई बार निरन्तर प्रयास भी विषमता मे परिणित हो जाते हैं, तब उस विषमता की स्थिति को समतामय उपलब्धि के साथ जोडना पडता है, जिससे आत्म-शक्ति को अभिव्यक्त होने का प्रबल अवलम्बन मिल जाता है। यदि जीवन मे समता को दृढ अनुपात मे लेकर चला जाय तो काल-लब्धि की दृष्टि से विलम्ब लग सकता है किन्तु अभिव्यक्ति निश्चित हो जायगी। समता सिद्धान्त दर्शन जहां विचार-समता की प्रेरणा देता है तो वह समग्र रूप से जीवन को समतामय बनाने का भी निर्देश देता है। ज्यो ही वैचारिक साम्य की स्थिति बनती है तो मस्तिष्क की सुघडता का अन्य अग-उपागो पर भी सुप्रभाव पडता है। विचारो के समतामय होने के साथ ही जीवन का सारा ढाचा एक नए परिवर्तन की करवट लेता है।

समतामय का जो यह विशेषण लगाया गया है, उसका विशेष महत्व है। समता की तरलता जीवन के अणु-अणु के साथ समरस होनी चाहिए, तभी इस 'मय' का अर्थ सार्थक बनता है। समता का क्रम विचार, उच्चार और आचार के अनुसार चलना चाहिए। विचारो मे समानता, वाणी मे समानता और फिर आचरण मे समानता यदि पूर्णागो मे आ जाय तो फिर जीवन की ज्योति को प्रकाशित होने से कौन सी बाधा रोक सकती है? विचार ही वाणी मे फूटते हैं और वे ही जीवन के अन्दर उतरते हैं, और जब यह कार्य सम्यक् रूप से सम्पन्न होता है तब समतामय स्थिति उत्पन्न होती है। यही स्थिति आत्मशक्ति को पूरे तौर पर उजागर बनाती है।

आत्म-शक्ति का मूल कहां ?

आत्म शक्ति की अभिव्यक्ति के इस प्रकार कई अग और रूप हो सकते हैं, किन्तु उसका मूल कहां रहा हुआ है—इसे स्पष्टत समझने की आवश्यकता है।

अहिंसा समता का प्रधान अंग है और इसी तरह आत्मशक्ति की अभिव्यक्ति का मूल, शास्त्रकारों ने अहिंसा का रूपक इस प्रकार दर्शाया है कि इस संसार रूपी समुद्र में चारों गतियों में आत्माएँ भटकती हैं और उन्हें कोई सहारा नहीं दीखता। कल्पना करें कि बीच समुद्र में एक तैराक गिर जाता है और वह डूबने की स्थिति में आ जाता है, तब यदि उसे एक टापू दिखाई दे तो उसे बचने की आशा से कितनी शान्ति मिल जाती है ? तब वह उत्साहपूर्वक टापू की ओर तैरने लगता है। उसी प्रकार इस संसार समुद्र का टापू अहिंसा को माना गया है। संसार में गोता खाने वाले प्राणियों को अहिंसा से ही आश्रय मिल सकता है। यह शरण रूप अहिंसा भव्य प्राणियों को प्रभु के मार्ग की ओर मोड़ने वाली होती है। इसे टापू कहें, ज्योतिर्स्तंभ या जहाज कहें—अभिप्राय एक ही है।

अहिंसा के शास्त्रीय नाम

शास्त्रकारों ने अहिंसा के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करने की दृष्टि से इसे विविध नामों एवं विशेषणों से सम्बोधित किया है। अहिंसा को "निव्वाण" याने निर्वाण भी कहा है। निर्वाण का अर्थ होता है—मोक्ष अर्थात् जीवन की चरम सीमा और परम शान्ति का स्थल। आप सोचेंगे कि अहिंसा मोक्ष कैसे है ? मैं कहूँगा कि वह मोक्ष का एक प्रमुख कारण है। इसके लिए मोक्ष के तात्पर्य को समझना होगा। जहाँ आत्मा का चरम सीमा तक विकास हो और समता का पूर्ण रूप प्रकाशित हो—वह मोक्ष है। यह स्थिति अन्तर के कारण से बनती है। इसलिए कारण में कार्य का विचार किया गया है। कारण में कार्य का विचार करने का अर्थ है कि जब कभी प्रसंग आता है तो कहा जाता है कि जल मनुष्य के लिए प्राण है—जीवन है। 'अन्नवाही प्राणा" का वेदों में उल्लेख है और 'घीवहीं प्राणा' का भी उल्लेख है तो क्या अन्न और घी प्राण हैं ? यहाँ प्राणों से तात्पर्य है कि जो इन्द्रियों को शक्ति देते हैं उन्हें भी प्राण रूप कह दिया गया है। इसी रूपक से अहिंसा को निर्वाण कहा गया है क्योंकि अहिंसा के कारण से आत्मशक्ति का प्रकटीकरण रूप कार्य सम्पन्न होता है।

यह शास्त्र का वचन और ज्ञानियों का अनुभव है कि जितने-जितने अंश में हम अहिंसा की शरण में जाते हैं उतने-उतने अंश में हमारा मोक्ष भी होता जाता है। इस संसार के अन्दर मोक्ष की स्थिति का कोई कारण है तो वह अहिंसा ही है। मानसिक, वाचिक व कायिक हिंसा से दूर होकर जब कोई सिद्धान्त और व्यवहार में पूर्णतया अहिंसा का आगार बनता है तो ऐसा मान लिया जाना चाहिये कि उसका जीवन पूर्णतया समतामय हो गया है। अहिंसा वह प्रबल साधन है जिसकी सहायता से समतामय जीवन के साध्य को निश्चित रूप से प्राप्त किया जा सकता है।

अहिंसा को "निव्वुइ" याने निवृत्ति भी कहा है। जहाँ हिंसा है, चाहे वह

किसी भी प्रकार की हो—उससे निवृत्त होने पर ही अहिंसा की आराधना की जा सकती है और जीवन-रक्षण की स्थिति मे पहुंचा जा सकता है। अत. हिंसा से निवृत्ति के कारण अहिंसा का यह नामकरण भी किया गया है।

अहिंसा का अन्य नाम 'समाही' अर्थात् समाधि भी शास्त्रकारो ने बताया है। समाधि किसे कहते हैं ? आपने सुना होगा कि कई प्राणायाम करके वायु को कपाल मे चढा निश्चेष्ट होकर समाधि लेते हैं। वे यह समझते हैं कि श्वास का निरोध करके वे समाधि ग्रहण कर रहे हैं किन्तु वस्तुत· वह समाधि नही है। समाधि कहते हैं शान्ति को—निज की शान्ति और पर की शान्ति। यह समाधि अहिंसा से ही प्राप्त हो सकती है। हिंसा नही होगी तो शान्ति फैलेगी ही—यह प्राकृतिक तथ्य है। हिंसा नही करने से स्वय मे रौद्र भाव पैदा नही होगा एव दूसरो के प्रति रक्षा की प्रवृत्ति पनपेगी। इसलिए परस्पर समता का भाव बढ़ेगा और समाधि का वातावरण विस्तारित होगा। अतः अहिंसा से बढकर शान्तिकारक और कौनसा विचार तथा आचार हो सकता है ? जो अहिंसक है उसको उसकी समाधि से कौन डिगा सकता है ? इसलिए सच्ची समाधि श्वास-निरोध को नही, हिंसा-निवारण को कहा जाना चाहिए। एक अहिंसक सच्चा समताधारी होता है और समता-समाधि की जननि है।

अहिंसा—शक्ति और कीर्ति भी

अहिंसा को फिर कहा है—सत्ती याने शक्ति। नानाविध बाह्य शक्तियां दिखाई देती हैं और मनुष्य सोचता है कि मुझे शस्त्र की शक्ति प्राप्त हो जाय, यत्र की शक्ति मिल जाय, सत्ता या सम्पत्ति की शक्ति मिल जाय अथवा शरीर की शक्ति मिल जाय—किन्तु इन सारी बाहरी शक्तियों के पीछे वह भटकता रहता है और अन्तर की सच्ची शक्ति पाने की ओर अपना ध्यान नही लगाता है। इस शक्ति के सामने अन्य सभी बाहरी शक्तियां गौण होती हैं। आत्म-शक्ति जो प्राप्त कर ले तो ये सारी शक्तियां निरर्थक हो जाती हैं। यह आत्म-शक्ति प्राप्त होती है अहिंसा से—इसी कारण अहिंसा का नामोल्लेख शक्ति रूप मे भी किया गया है। एक अहिंसक की कैसी शक्ति होनी है, इनकी समसामयिक झलक तो महात्मा गांधी के जीवन से मिलती ही है। अहिंसक की शक्ति आत्मा पर आधारित होती है, अत अडिग और अजेय भी होती है।

'कित्ती" अर्थात् 'कीर्ति' शब्द से भी शास्त्रकारो ने अहिंसा को सम्बोधित किया है। मनुष्य कीर्ति के पीछे झूठे-झूठे साधनो को अपनाकर भटकता है और उसकी प्राप्ति के लिए तरह-तरह की कोशिशें करता है। किन्तु यदि किसी को सच्ची एव अमिट कीर्ति प्राप्त करनी है तो उसे अहिंसा को अपना लेना चाहिये। यदि कोई

एक दु खी मनुष्य की भी सहायता करके उसका दु ख दूर कर देता है तो क्या वह उस उपकार को भूल मकता है ? वह जहाँ जायगा—वात करेगा, अपने रक्षक और सहायक की अवश्य प्रशसा करेगा । एक अहिंसक तो अपने सामर्थ्य के अनुसार सैकड़ो-हजारो और उस तरह का कार्य व अवसर हो तो लाखो का दु ख दूर करने की क्षमता रखता है । क्या प्रभु के आदर्श जीवन से असस्य प्राणियो का दुःख दूर नही होता ? यदि इतने लोग एक अहिंसक की सर्वत्र प्रशसा करने लगे तो सोचिये कि उसकी कीर्ति कितनी व्यापक हो जायगी ? कीर्ति की कामना नही होनी चाहिये, किन्तु अहिसा और समतामय जीवन वनाकर जो चलता है, उसकी कीर्ति स्वतः ही विस्तृत होती चली जाती है । आपकी आँखो देखी वात का ही दृष्टान्त दूँ कि परम हिंसामय वातावरण मे जव गाधीजी नोआखली (वगाल) गये तो एक अहिंसक का कैसा सुप्रभाव पडा और उससे उनकी भी प्रतिष्ठा कितनी अभिवृद्ध हुई ? अहिंसा अवश्य ही कीर्ति प्रदात् भी है ।

अहिंसा को कान्ति भी कहा है । चमक होती है तो शरीर भी प्रभावशाली लगता है, फिर जहाँ आत्मशक्ति की दमक मिल जाय तो वहाँ तेजस्विता की कमी कैसे रहेगी ? ज्ञानी जन कहते हैं कि अगर तू अपने स्वरूप को चमकाना चाहता है तो वाह्य एव कृत्रिम साधनो के पीछे मत भाग, वल्कि अपने जीवन मे अहिंसा को प्रमुख स्थान दे और फिर देख कि वास्तविक कान्ति से कैसा तेज टपकता है ?

आप आश्चर्य करेंगे कि अहिसा को रति भी कहा है और विरति भी । रति का अर्थ काम ही, नही अनुरक्ति भी होता है, और वह अनुरक्ति अगर किसी एक व्यक्ति मे न होकर उदारचरित्र के अनुसार सम्पूर्ण वसुधा के प्राणियो मे हो तो क्या उस अनुरक्ति को हम अहिसा का श्रेष्ठ स्वरूप नही कह सकेंगे ? इस तरह अहिंसा रति है तो विरति इसलिए कि हिंसा से विलग होने पर ही अहिंसा की स्थिति आती है तो हिसा से विरति अहिंसा का रूप हुआ ।

अहिंसा शीर्ष-स्थान पर

विविध नामो की अपेक्षा से यह अहिंसा का विविध विवेचन नही, बल्कि विविध रूप मे उसका स्वरूप दर्शन है । जीवन निर्माण के विविध अगो मे अहिंसा की प्रतिष्ठा शीर्षस्थान पर है । मानव शरीर का रूपक लें तो अहिंसा मस्तिष्क के समान है । जिसका मस्तिष्क ठीक नही तो उसका विचार और आचार—दोनो ही विकृत रहेगा । आप देखते हैं कि सन्तुलित मस्तिष्क वाले की ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा रहती है चाहे उसके अन्य अंगोपागो मे कोई दोष भी हो । शीर्ष ठीक तो सब ठीक, क्योकि शीर्ष बिगड जाय तो कहा नही जा सकता कि किस-किस अंग को कितनी-कितनी हानि उठानी पडे ? जिसके मस्तिष्क मे पागलपन आ जाय और वह अपना नियंत्रण खो बैठे तो फिर उसकी क्या दशा हो जायगी ?

यही शीर्षस्थान अहिंसा को प्राप्त है। जो आत्म-विकास के मार्ग पर कुछ अन्य सद्गुण तो अपना ले किन्तु हिंसा का त्याग न करे तो क्या वह उस मार्ग पर आगे बढ सकेगा और क्या वह उन प्राप्त सद्गुणो को भी अपने साथ टिकाये रख सकेगा ? मस्तिष्क ठीक है तो हाथ-पैरो से भी ठीक काम लेगा तथा दूसरे अगो से भी अपना-अपना काम करायगा, किन्तु यदि हाथ-पैर और दूसरे अग तो सब ठीक है मगर केवल मस्तिष्क ही ठीक नही है तो क्या अन्य सभी अगो का ठीक होना ठीक तरह से उपयोगी बन सकेगा ?

इसके विपरीत यदि मस्तिष्क बिल्कुल स्वस्थ और सन्तुलित है और दूसरे अगो मे वाछित क्षमता या शक्ति नही भी है तब भी मस्तिष्क अपनी क्षमता से कुछ न कुछ ऐसे उपाय निकाल लेगा कि जिनके द्वारा काम चलाया जा सके। इसी प्रकार एक व्यक्ति जिसने केवल हिंसा छोडी है और दूसरे विकारो को नही छोड सका है तो वह ज्यो-ज्यो अधिकाधिक अहिंसक बनता जायगा, अपनी आत्मशक्ति को वह बढ़ाता जायगा और उसकी सहायता से अन्य विकारो से भी मुक्ति पाता जायगा।

अहिंसा आत्मशक्ति को प्राप्त करने की वह पहली सीढी है, जिस पर पाँव रख कर ही ऊपर की ओर बढ़ा जा सकता है। अहिंसा की आराधना से शक्ति का सचय करती हुई आत्मा उर्ध्वगामी बन सकती है। यह कहा जा सकता है कि आत्मशक्ति का मूल अहिंसा मे ही है और जिसने मूल को पकड लिया, मूल को पुष्ट और दृढ बना दिया उसे कौन हिला सकता है ? सुदृढ मूल वाले वृक्ष की शाखाऍ और उप-शाखाऍ फलेंगी तो उस पर पत्ते, फूल और फल भी लगेंगे। जिसकी जड हरी है, उसकी हर चीज हरी रहती है।

अहिंसा का आराधक विनयधर

क्या विनयधर सेठ की हरी-भरी आत्म-शक्ति को श्रीकेतु राजा उजाड़ सकेगा ? विकारो मे रंगे मनुष्य का विकृत प्रयास सभी ओर से चलता है किन्तु समता एव अहिंसामय व्यक्तित्व को डिगा पाना भी असाध्य ही होता है। श्रीकेतु हिंसा का प्रतीक बनकर अहिंसक सेठ को दबोचने की कोशिश करता है। उसने साम, दाम, दंड, भेद से नागरिको को अपने पक्ष मे करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिए। स्वार्थ या प्रभाववश कई नागरिको के राजा के पक्ष मे हो जाने के बावजूद भी एक नागरिक ने स्पष्ट रूप से सभा मे कहा—राजन् ! आप कुछ भी षड्यत्र करें—असली हस तो मोती ही चुगता है और मोती न मिले तो लघन कर लेता है, किन्तु मैले मे या अन्यत्र कभी अपनी चोच नही डालता है। विनयधर सेठ सच्चरित्रता की प्रतिमूर्ति है और रहेगा। वह कभी पर-स्त्री लम्पट नही बन सकता है।

श्रीकेतु राजा का मस्तिष्क तो विकृत था—बेकाबू था। वे कुपित हो उठे

और गरज कर बोले--मैं राजा हूँ, शक्ति सम्पन्न हूँ--चाहे जो मैं कर सकता हूँ और करूँगा। इस कोप ने साधारण रूप से सभा पर असर डाला। आप तो जानते हैं कि जो संसार मे बैठे हुए हैं और सम्पत्ति के पीछे भागते है, उन पर सत्ता का कितना और कैसा आतक रहता है ? यह तो अहिसक की ही आत्मशक्ति होती है कि वह किसी भी अन्याय को सहता नही और किसी से भी भय खाता नही। संसार के स्वार्थों मे पडे हुए लोगो का साहस ही कितना होता है ? या तो स्वार्थ छोडें या उन्हे दवना ही पडता है।

उसी समय राजा ने सेनाध्यक्ष को बुलाकर आज्ञा दी कि वह पर्याप्त सैनिक शक्ति अपने साथ ले जाकर तुरन्त विनयधर सेठ की हवेली को घेर ले तथा सेठ और उनकी चारो सेठानियो को बन्दी बनाकर उनके सामने प्रस्तुत करे। दुष्ट व्यक्ति जब कोई बात कहता है या करता है तब उसमे उसका दुरंगापन बराबर बना रहता है। श्रीकेतु महाराज का मस्तिष्क भी विकार भावना से ग्रस्त एवं राजकीय मद से मत्त बना हुआ था। बाहर से तो वह विनयधर सेठ को पर-स्त्री लम्पट सिद्ध करके अपनी सच्चरित्रता की छाप लगा रहा था, किन्तु कितनी लज्जाजनक स्थिति थी कि असल मे वह स्वय पर-स्त्री लम्पट बनने के लिए कितना मायावी षड्यत्र रचकर कामयाबी पाना चाह रहा था।

राजाज्ञा लेकर जब सेनाध्यक्ष विनयधर सेठ की हवेली पर पहुँचा तो वहाँ अहिसा और समता का विशुद्ध वायुमण्डल छाया हुआ था। परम पवित्रता अतिशय अपवित्र को भी पवित्रता की ओर प्रभावित करती है और उस विशुद्ध वातावरण का असर उस सेनाध्यक्ष पर भी पडा। यह असर अदृश्य होते हुए भी उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उसे शीतल छाया की तरह शान्ति का अनुभव हो रहा हो। उस सेनाध्यक्ष को महसूस हुआ कि वायुमडल पर स्वयं सेठ एवं सेठानियो के पवित्र जीवन का ही प्रभाव परिलक्षित हो रहा है।

सेनाध्यक्ष सोचता है कि यह शान्तिप्रदायक प्रभाव ऐसा ही है जैसा जल-प्रवाह के समीप शीतलता और पुष्पित उद्यान के समीप सुगन्ध का प्रभाव होता है। इसी के सन्दर्भ मे उसने सोचा कि ऐसे पवित्र व्यक्ति पर राजा ने ऐसा जघन्य आरोप क्यों लगाया है तथा ऐसी कठोर आज्ञा उसे क्यो दी है ? उसके मन मे तरह-तरह की ऊहापोह चलने लगी। फिर भी वह तो राज्य सेवक था और उसे राजाज्ञा का पालन करना था, वह हवेली के मुख्य द्वार पर पहुँचा और वहाँ के एक भृत्य से पूछा कि सेठ भीतर क्या कर रहे हैं ? उत्तर मिला कि वे अपने धर्म क्रिया-कक्ष मे साधनारत हैं। सेनाध्यक्ष को अधिक आश्चर्य हुआ कि इतने बडे राजकीय कोप के बावजूद यह व्यक्ति शान्त मति से धर्म-साधना मे लगा हुआ है।

सेनाध्यक्ष ने फिर भी हवेली मे प्रवेश करके विनयधर सेठ से मिलने का

उपक्रम किया तो उनके परिवार जनो ने उसको रोका कि धर्म-साधना के समय वे कुछ भी बोलेंगे नही और उसमे किसी भी प्रकार से विघ्न डालना भी उचित नही होगा। वह स्वयं सेठ के तथा उनके परिवार वालो के धैर्य्य से प्रभावित होता है, फिर भी उसके मन मे यह भी शका उठती है कि कही बहाना तो नही बनाया हुआ है। उसने परीक्षा करने का निर्णय किया। सेनाध्यक्ष साधनागृह के बाहर खडा हो गया। उसने देखा कि भीतर बिल्कुल सादगी का वातावरण है और सेठ ध्यान मे तल्लीन हैं। उनके मुख पर किसी तरह की चिन्ता का चिन्ह तक नही था। चारो पत्नियां भी वही बैठी हुई थी और वे भी सत्प्रवृत्ति मे लगी हुई थी। सेनाध्यक्ष बाहर-खडा खडा सावधानी से उनकी चौकसी करने लगा।

हिंसा और अहिंसा के दो दृश्य

हिंसा और अहिंसा के दोनो ओर दो दृश्य देखिये। हिंसक प्रवृत्ति पर उतारू श्रीकेतु आर्त और रौद्र ध्यान के निकृष्ट विचारो मे डूब रहा है। उसके चेहरे पर कोप और आतक के निशान हैं तो भय की रेखाएँ भी खिची हुई हैं। हिंसक मे न समता होती है, न आत्मशक्ति ! वह तो बाहरी शक्ति पर इतराता है जो अन्त मे धोखा दे देती है। इससे कतई दूसरा ही दृश्य होता है एक अहिंसक के अन्तर्मन का। वहाँ न क्रोध होता है, न भय। उस आकृति पर तो पूर्ण शान्ति का अनुभाव बना रहता है। यही दृश्य दिखाई दे रहा था सेठ विनयधर की आकृति पर, क्योकि उसके पास अहिंसा की साधना और उस पर आधारित आत्मशक्ति थी।

कितना अन्तर होता है दोनो प्रकार की शक्तियो के बीच। श्रीकेतु के पास सत्ता और सम्पत्ति की अपार शक्ति थी, फिर भी वह भयभीत था क्योकि विकारो से भय ही फूटता है। अपार बाह्य शक्तियो के समक्ष अकेली आत्मशक्ति भी तुलना मे कई गुना सशक्त होती है। यही कारण है कि अहिंसा का आराधक एकदम निर्भीक होता है। अन्तर का उसे ऐसा सम्बल होता है कि वह जैसे झुकाये नही झुकता। वह किसी को मारता नही और आवश्यकता हो तो स्वयं मरने से कभी पीछे हटता नही। ऐसा होता है अहिंसा का बल, जो आत्मा की अनन्त शक्ति को जगाता है और उसे गतिमान बनाता है।

एक बार अहिंसा एव समता की सम्यक् साधना से जिसने अपनी आत्मशक्ति को जगा दिया, वह फिर अशक्त नही रहता। वह अपनी उस शक्ति को विकसित करता हुआ परम-शक्ति तक पहुंच ही जाता है। भगवान् की तरह वह भी अनन्त शक्ति सम्पन्न बन ही जाता है।

लाल भवन
२९-८-७२



❦ अहिंसा की आराधना

"सभव देव ते धुर सेवो सवेरे ... ."

यह भगवान् श्री सभवनाथ की प्रार्थना है। भगवान् एक प्रकार से सत्य के प्रतीत होते है। उनका जो आदर्श जीवन है, वह सत्य का प्रतिरूप होता है। हम कहा करते है कि सत्य ही भगवान् है और उसका कारण यही है कि जिस सत्य मार्ग पर आगे वढ कर जो वे साधना करते हैं, उससे वे जब पूर्ण सत्य के दर्शन कर लेते है तब वही आत्मा परमात्मा का परम श्रेष्ठ स्वरूप धारण कर लेती है। इस तरह हम कह सकते हैं कि सभी भव्य प्राणियो का अन्तिम साम्य भी सत्य ही होता है, क्योकि सत्य है वही कल्याणकारी है और जो कल्याणकारी है, वही सुन्दर है। जो सुन्दर है, वही दिव्य और भव्य है। यह सुन्दरता आतमा की सुन्दरता होती है। आत्म-सौन्दर्य ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य होता है, जो अन्तर की शक्ति मे प्रस्फुटन से विकसित होता है।

सत्य के साध्य को प्राप्त करना सरल नही होता। इस मार्ग मे जिस प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, उनसे कई वार मनुष्य के मन पर हताशा की लहरें दौड जाती है और उसका उत्साह शिथिल होने लगता है। वह सोचता है कि यह मार्ग तो असाध्य है—इस पर वह कभी भी चल नही सकेगा। आन्तरिक कर्म शत्रु जब उसकी गति पर बार-बार आघात करते हैं तो वह अत्यन्त ही निराश हो उठता है और उस साध्य की ओर वढने से रुक जाता है क्योकि उसे वह असंभव मानने लग जाता है।

मन और मस्तिष्क की दुर्बलताएँ

मन और मस्तिष्क की इस प्रकार की भंयकर दुर्बलता के क्षणो मे जब वह भगवान् श्री सभवनाथ की प्रार्थना पर अपना ध्यान केद्रित करता है तो उसके शिथिल अन्तर मे उत्साह का एक नया ज्वार प्रकट होने लगता है। प्रभु के आदर्श जीवन-दर्शन मे उमग की लहरे फिर दौडने लगती हैं और तब वह पुन. उत्साहित

होता है कि उसकी गति उस मार्ग पर अग्रसर बने। इस उत्साह जागरण के साथ ही उसके मन मे यह सकल्प सुदृढ बनने लगता है कि भविष्य मे वह कदापि अपने निश्चय से डिगेगा नही। सभवनाथ को स्मरण करके जैसे उसका उत्साह द्विगुणित हो जाता है।

दृढ सकल्प के निर्माण के बाद जब साध्य को पाने की ललक तीव्र हो उठती है तब वह मनुष्य उस साध्य को पाने के लिये उपयुक्त साधन की खोज करने लगता है। अब जब सत्य को पाना है याने कि भगवान् को पाना है तो जैसा कि कल स्पष्ट किया जा चुका है कि अहिंसा ही उसके लिये श्रेष्ठतम साधन है। साध्य तभी मिलेगा जब साधन समर्थ होगा, वरना साध्य सदैव साध्य ही बना रहेगा, कभी भी उपलब्धि के रूप मे प्रकट नही हो सकेगा।

अहिंसा से ही सत्य की सिद्धि सभव है। जिसे सभवनाथ प्रभु ने सभव कर दिखाया है और जिनके आदर्श जीवन-सूत्रो से ही हमे भी सभव कर दिखाने की प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। 'सभव' शब्द से ही सकेत उस मानसिक भूमिका पर पहुँचता है, जहाँ से एक हताश व्यक्ति की उमग एक नये दौर मे पैदा होती है। असभव की कल्पना करते ही जिस तरह निराशा का अंधेरा मन और मस्तिष्क पर छाने लगता है, उसके ठीक विपरीत सभव की स्थिति गहरे अन्धकार मे भी आशा की प्रकाश किरण को चमकाने वाली है। इसीलिये कहा गया है कि सभवनाथ की सेवा करो, उनका स्मरण करो—अर्थात् उनके सामर्थ्य, उनकी शक्ति और उनकी सतत सभावना को अपने अन्तर्मन मे समाहित करते रहने का प्रयास करते रहो।

सभव की धूमिल सी आशा भी जब नवोत्साह का संचार करती है तो भगवान् श्री सभवनाथ का नाम-स्मरण तो प्रेरणा का महद्स्रोत है। उनकी प्रार्थना के साथ ही—यदि सच्चे हृदय से की जाय तो ऐसी प्रतीति होने लगेगी कि इस विश्व मे असभव नाम की कोई स्थिति नही होती। असभव का अर्थ है—असामर्थ्य, अकर्मण्यता एव कापुरुषता। अशक्ति है, वहाँ असभव है वरना वास्तव मे असभव कुछ भी नही है। असभव को भी सभव कर दिखाने की शक्ति इस आत्मा मे विद्यमान है। किन्तु जब सभवनाथ का स्मरण किया जायगा तो वह शक्ति उद्घाटित होगी तथा अन्तर की सारी सुषुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो उठेंगी। दृढ़ सकल्प पुरुषार्थ को उद्बोधित करेगा कि शीघ्रातिशीघ्र आत्मा की अनन्त शक्ति को पूर्णत प्रकट किया जाय और प्रेरणा देगा कि सभवनाथ के मार्ग पर चाहे कितनी ही बाधाएँ डिगाने को आएँ फिर भी कठिन साधनो के बल पर परम उत्साह से साध्य को प्राप्त करके संभवनाथ के सच्चे अनुगामी बने।

पुरुषार्थ नियोजन की दिशा

इस पुरुषार्थ को नियोजित करना है—सही साधन रूप अहिंसा को अपना कर तथा अहिंसक शक्ति को अडिग और अजेय बनाकर। अहिंसा की उपासना शौर्य-पूर्वक ही की जा सकती है, क्योकि अहिंसा सदा ही वीरो का धर्म रहा है, कायरो का कभी नही। जो सच्चा वीर है वह तो अहिंसा को अपनाता ही है, किन्तु जो अहिंसक है उसके जीवन मे तो कभी कमजोरी के क्षण आते ही नही। वह वीरतापूर्वक ही जीता है, कठिनाइयो से सघर्ष करता है तथा एक वीर तरह अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करके रहता है।

मैं बराबर बतलाता आ रहा हूँ कि जो अहिंसा को विचार, वाणी और कर्म से अपनाते है, वे ही अपने जीवन मे सच्ची समता का भी सचार कर पाते हैं। 'सम' शब्द सहनशीलता, सयम, सौम्यता और समानता का एक साथ द्योतक माना गया है। सम की स्थिति का अर्थ है कि उसके जीवन मे समरसता आ गई है। यह समरसता सिर्फ अहिंसा की निरन्तर उपासना से ही संभव हो सकती है। अहिंसा से समता और समता से सर्वोच्चता-यह आत्म-विकास का स्वाभाविक क्रम होता है।

समता की रस-धारा और परख बुद्धि

अहिंसा और समता की रस-धारा से जिसने अपने जीवन को समरस बना लिया है, उसकी पहिचान एक साधारण सा पारखी होगा, वह भी कर लेगा। आप देखें कि सामने मिट्टी के दस कोरे घड़े पडे हुए हैं। अब क्या आप जान सकेंगे कि कौन सा घडा जल से पूरा भरा है, कौन सा आधा अथवा कौन सा पूरा खाली होकर कोरा का कोरा है? शायद आप थोडी-सी दृष्टि को पैनी बनायेंगे तो आसानी से जान लेंगे। सजलता घडे के अन्दर तक ही मर्यादित होकर नही रहती है किन्तु वह बाहर तक प्रकट होकर दिखाई देती है। उसी सजलता के स्पष्ट चिह्न आपको घडे के बाहर भी दिखाई देंगे और उससे घडे मे जल की स्थिति का आपको ज्ञान हो जायगा।

घडे की सजलता की तरह ही अहिंसा और समता की सजलता भी थोड़े से विवेक के साथ ही स्पष्ट समझ मे आने वाली स्थिति होती है। जब यह रस-धारा मनुष्य के मन और मस्तिष्क मे प्रवाहित होने लगती है, और उससे विचार तथा आचार मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है तो उसकी सजलता बाहर भी फूटती है। तब बाहर की दुनिया भी उस धारा को आसानी से समझ लेती है। अहिंसा एवं समतामय जीवन का प्रेरणादायी प्रभाव बाहर भी उसके अग-अग से अभिव्यक्त होने लगता है।

जीवन मे आदर्श का प्रवेश हो रहा है—इसका ज्ञान इसी स्थिति से हो सकता

है कि उसके जीवन की इस रस-धारा के प्रवाह की क्या स्थिति है? जिसके जीवन मे समता का एक अश भी प्रविष्ठ हो जाए तो उसमे तेजस्विता प्रकट हुए विना रहेगी नही। हर क्षेत्र मे उसकी झलक आएगी और वह जल के घडे की तरह स्पष्ट परिलक्षित होने लगेगी।

अहिंसा के स्वरूप पर उसके विविध नामो की दृष्टि से कल प्रकाश डाला गया था, किन्तु उस नामावली मे कुछ और विशेषणात्मक शास्त्रीय नाम वच रहे हैं, जिन्हे भी व्याख्यात्मक रूप से समझेंगे तो उससे अहिंसा का स्वरूप और अधिक सुवोध हो सकेगा तथा उसकी सक्रिय उपासना की तरफ दृढ सकल्प भी आगे वढेगा और वह कठिन पुरुषार्थ को भी जगाएगा।

अहिंसा का अगला नाम 'खन्ति' वताया गया है। खन्ति याने क्षान्ति। क्षान्ति कहते हैं—क्रोध के निग्रह को। क्रोध का प्रसग सामने हो और भडकाने वाली स्थितियो के वावजूद वह व्यक्ति ही क्रोध का निग्रह कर सकता है जिसने अपने आप को अहिंसा का कट्टर उपासक वना लिया है। सम्यक्त्व की आराधना को भी समता ही कहा है और समता से क्षान्ति का सदगुण जीवन मे उतरता है तो कारणभूत होने से अहिंसा शान्ति भी है।

महती विशेषण भी अहिंसा के लिये प्रयुक्त हुआ है। महती का अर्थ है कि सभी धार्मिक अनुष्ठानो मे उसका समावेश होने लगे और सभी तरह की धर्म-क्रियाओ मे उसका अतीव उत्साह वना रहे। ऐसा वही कर सकता है जिनके जीवन मे अहिंसा का अश समा गया है। जो विचार और आचार—दोनो विधियो से अहिंसा के सूक्ष्म रूप को भी भली-भाँति समझ कर उसे क्रियान्वित करने का यत्न करता है, उस जीवन मे शनै -शनै ही सही, महानता का प्रकट होते जाना सुनिश्चित होता है।

अहिंसा—वोधि, धृति और समृद्धि है

'वोहि' शब्द से भी अहिंसा को पुकारा गया है। वोहि याने वोधि—जिसका अर्थ होता है कि सद्धर्म की प्राप्ति। हिंसा से दूर हटते रहने पर इस सत्य का वोध होने लगता है कि आत्मा क्या है, उसकी अनुभूति क्या है और शक्ति क्या है, क्योकि आत्मिक सद्भाव ही अहिंसा के श्रीगणेश से समझ मे आने लगता है। इसलिये मानना चाहिये कि अहिंसा की उपासना से ज्ञानार्जन का प्रयास भी पूर्ण सफल वनता है। किसी की वुद्धि कितनी ही तीव्र हो, किन्तु यदि उसमे अहिंसा और समता की झलक न हो तो वह वुद्धि न तो स्थिर हो सकेगी और न उसके प्रभाव से शान्ति लाभ ही हो सकेगा। ज्ञान को जगाने वाली भी अहिंसा ही होती है।

अहिंसा का नाम 'धृति' भी कहा है। धृति उस शक्ति का नाम है जो चित्त की चचलता को रोक कर उसे गभीर, स्थिर और स्वस्थ वनाती है। धृति के कारण-

भूत भी अहिंसा है और इसी तरह सच्ची आत्मिक समृद्धि की कारणभूत भी अहिंसा को ही माना गया है ।

अहिंसा—समृद्धि क्यो है ? समृद्धि का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से ऋद्धि । यह ऋद्धि केवल भौतिक ही नही होती है, वल्कि आत्मिक भी होती है । भौतिक ऋद्धि भी किसी के पास है और उसका वर्तमान जीवन असयमित और असन्तुलित है तो समझना चाहिये कि यह ऋद्धि उसके पूर्व जन्म की आराधना का प्रतिफल है, क्योंकि ऋद्धि की उपलब्धि अहिंसा की सफल साधना पर ही निर्भर करती है । आत्मिक ऋद्धि की तो मूलाधार ही अहिंसा है । अहिसा के अनुपालन से सद्गुणो का समावेश आत्मिक अनुभावो मे होने लगेगा और उससे निश्चय ही आत्मा की श्री अभिवृद्ध होगी । यह श्री वृद्धि ही तो समृद्धि वन जाती है । अहिंसा का नाम इस कारण समृद्धि के साथ सिद्धि भी है, क्योंकि समृद्धि का सीधा परिणाम सिद्धि के रूप मे ही तो प्रकट होता है ।

अहिंसा—वृद्धि, स्थिति और पुष्टि भी

अहिसा का नाम वृद्धि भी है । मानव की वृद्धि किस कारण से संभव होती है । अगर वह अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य मे बढ रहा है तो उस वृद्धि का मूल कारण भी अहिसा की उपासना मे ही समाया हुआ है । उस कारण के अन्दर कार्य का उपचार करके ही अहिंसा को वृद्धि भी कहा है ।

अहिंसा को "ठीति" याने स्थिति भी कहा है । अनादि और अनन्त जो मोक्ष की स्थिति है, वह अनन्त काल तक रहेगी । ऐसे मोक्ष मे अजर-अमर रुप से स्थायी प्रस्थापना का कारण भी उसी अहिंसा मे निहित है ।

अहिसा 'पुठ्ठी' भी है । पुठ्ठी का नाम पुष्टि है । जितना भी पुण्य-प्रकृति के पुष्ट होने का प्रसग आता है, वह अहिसा की वदौलत ही आता है और उसकी मात्रा चाहे जीवन मे न्यूनाशो मे ही क्यो न उतरी हो—वह भी उसकी भावी प्रगति को पुष्टि देने वाली होती है । यों कहा जा सकता है कि अज्ञानी से अज्ञानी तया क्रूर से क्रूर प्राणी के मन मे भी कुछ न कुछ अहिसा का अनुभाव तो रहता ही है । यह हो सकता है कि उसमे अहिंसा का स्वरूप विद्यमान न होकर उसका विकृत स्वरूप ही दिखाई दे रहा हो । वीज रूप मे अहिसा की पुष्टि सब मे होती है, जो यत्किंचित् सहानुभूति के रूप मे यदा-कदा ही सही, प्रकट अवश्य ही होती है ।

इसे समझने के लिए एक दृष्टान्त दे रहा हूँ । बिल्ली छोटा सा प्राणी है, किन्तु स्वभाव से परम हिंसक होता है । उसमे अहिंसा का कोई भी अंश तो ऐसा दिखाई नही देता है । किन्तु मोह दशा से उस रूप को विकृत मानकर ही देखे तो आप जान सकेंगे कि बिल्ली भी अपने कोमल से नवजात बच्चे को बडी कोमलता से अपने दाँतो से पकड कर घर-घर घूमाती है । मजाल है कि कही एक दाँत भी उसके गड जाय ।

तो प्रत्येक प्राणी मे अहिंसा का बीज होता है किन्तु आवश्यकता ऐसी परिस्थितियो की होती है कि वह बीज अन्य साधनो से पुष्टि पाता हुआ उस प्राणी को अहिंसा की श्रेष्ठ उपासना की ओर गतिशील बना सके ।

अहिंसा को आगे चलकर 'नन्दा' याने आनन्ददायिनी और 'भद्रा' याने कल्याण-कारिणी भी बताया गया है । अहिंसा की आराधना करने वाला अपने आप को आनन्द और कल्याण के रस से आप्लावित न कर सके—यह कैसे सम्भव है, बल्कि वह तो उससे अपने पार्श्ववर्ती अन्य प्राणियो और एव वातावरण को भी आनन्द से भर देता है तथा उन्हे कल्याण की दिशा मे मोड देता है ।

आत्म-शुद्धि की प्रतिमूर्ति

अहिंसा को विशुद्धि की प्रतिमूर्ति भी शास्त्रकारो ने कहा है । आत्म-विशुद्धि का प्रारम्भ अहिंसा की आराधना से होता है तो उसकी सर्वश्रेष्ठता भी इसी आराधना की उत्कृष्टता से प्राप्त होती है । आप अहिंसा के सम्बन्ध मे स्थूल रूप इतना ही सोच कर नही रह जाएँ कि किसी प्राणी को नही मारने का नाम ही अहिंसा है । शास्त्रीय दृष्टि से अहिंसा की व्याख्या अति सूक्ष्मता से की गई है, जिससे स्पष्ट होता है कि अहिंसा न सिर्फ शारीरिक क्रियाओ को नियन्त्रित करती है, बल्कि वाणी और मन की गहराइयो मे प्रवेश करके समग्र जीवन मे पवित्रता का विस्तार करती है । आत्मा-विशुद्धि का मेल भी अहिंसा की आराधना मे समझा जाना चाहिए ।

आत्म-शुद्धि का अहिंसा के साथ अभिन्न सम्बन्ध माना गया है । अहिंसा अगर मूल मे रहती है तो आत्मशुद्धि होती है । अगर मूल मे नही है किन्तु उसका बाहरी दम्भ मात्र दिखाया जाता है तो उसका आत्म-विशुद्धि के सम्बन्ध मे कोई भी असर नही पडेगा । कभी-कभी यह प्रसग भी आता है कि समतामय अहिंसा के अभाव मे अभवी आत्मा अहिंसा का दम्भ दिखाकर साधु-धर्म भी ग्रहण कर लेती है, उच्च क्रिया भी कर लेती है तथा पुण्य सचय से उच्च गति मे भी पहुँच सकती है । किन्तु वह आत्म-विशुद्धि की ओर अपने चरण नही बढा सकती है क्योंकि उसमे अहिंसा की क्षमता नही होती है ।

ससारी आत्माओ मे भवी और अभवी का प्रसग चालू है । इसमे भवी आत्मा वह कहलाती है जिसमे मोक्ष-गमन की क्षमता हो, और अभवी आत्मा मे वह क्षमता नही होती । इस कारण मोक्ष गमन की क्षमता भी अहिंसा की आराधना से सक्षम होती है । विशुद्धि वही आत्मा कर पायेगी जो अपने सारे आचरण मे अहिंसा और समता का अग बनकर चल रही हो ।

यह परमोऽधर्म है

इस समस्त विश्लेषण से यह सत्य हृदयगम किया जाना चाहिए कि ईश्वरत्व प्राप्त करने के सबल साधन के रूप मे अहिंसा ही है । अहिंसा की महिमा इस विस्तृत

वर्णन से स्पष्ट होती है कि जीवन मे जो कुछ भी अच्छा है वह केवल अहिसा के प्रथम साधन से ही प्राप्त किया जा सकता है। 'अहिमा परमोधर्म' इसी सत्य का सूचक है। जहाँ अहिसा है—वहाँ धर्म है और धर्म ही सत्य को एव भगवान् को धारण करता है।

ऐसे परम धर्म रूपी अहिसा की यदि आप सच्चे एवं निष्ठावान् मन से आराधना करना चाहते है तो उनका श्रेष्ठ समय चातुर्मास को ही बताया गया है। साधु-मुनि चातुर्मास काल मे एक ही स्थान पर ठहरते है तथा वे वीतराग वाणी को जो नित प्रति श्रवण कराते है उससे इस दिशा मे गहरी आस्था की जागरणा होनी चाहिए। इस चातुर्मास काल मे पर्युषण पर्व एक आध्यात्मिक दीपावली के समान है कि आत्मा के सारे कलुष को धोकर अहिसा एव समत्ता की आराधना से आत्मस्वरूप को चमकाएँ।

अहिसा से लोकप्रियता

अहिसा अपने आराधक को लोकप्रियता भी भरपूर देती है। आपने देखा है कि राजनीति मे भी अहिसा का सफल प्रयोग करने वाले महात्मा गाधी कितने अधिक लोकप्रिय रहे, बल्कि उन्हे तो श्रद्धा से राष्ट्रपिता कहा जाता है। ऐसी ही लोकप्रियता अहिसा एवं समता के आचरण से विनयधर सेठ को भी प्राप्त थी। समता और विषमता के जीवन मे जैसी विपरीतता होती है, वह सेठ विनयधर और राजा श्रीकेतु के चरित्रो से झलकती है।

सेनाध्यक्ष राजाज्ञा की पालना की प्रतीक्षा करता है कि सेठ अपनी धर्म-साधना से निवृत्त हो तो वह उन्हे बन्दी बनाए। यथासमय साधना से निवृत्त होकर सेठ ने अपनी पोशाक बदली और देखा तो विचार किया कि उनकी हवेली मे सेनाध्यक्ष और सेना क्यो? उन्होने सेनाध्यक्ष से कारण पूछा तो वह कुछ भी बताने मे असमर्थ था। उसने तो सिर्फ सारे परिवार को बन्दी बनाकर ले चलने का आग्रह किया।

विनयधर सेठ ने कहा कि बिना अपराध का ज्ञान हुए और उसके स्पष्टीकरण का अवसर दिये ऐसा किया जाना तो उसकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध होगा, अतः उन्होने कुछ समय की माँग की। सेनाध्यक्ष ने प्रतीक्षा करने का आश्वासन दिया। कई मुखिया लोग तो राजा श्रीकेतु की सभा मे बैठे हुए थे, सेठ ने अवशिष्ट प्रमुख लोगो को अपने यहाँ बुलाया तथा उन्हे सारी स्थिति से अवगत किया। विचार के बाद उन्होने निर्णय लिया कि यह राजा का अन्याय है और इसे उसको जताना चाहिए।

मुखियाओ ने तुरन्त जनता को तैयार किया कि चरित्रशील की रक्षा मे उसे सर्वस्व न्योछावर कर देना चाहिए। सामान्य जन भी उस समय मे विवेकशील थे व

सत्य की रक्षा मे सन्नद्ध रहते थे। वे विशाल प्रदर्शन लेकर राज-प्रासाद पहुंचे और अपनी पुकार राजा को सुनाने लगे कि विनयवर सेठ पर अकारण ऐसा अन्याय क्यो ढाया जा रहा है ? यह सेठ की लोकप्रियता ही थी कि नगर का एक-एक नागरिक उनके पक्ष मे निकल पडा था और उनकी रक्षा के लिए स्वय कैसा भी कष्ठ भुगतने के लिए उद्यत हो गया था।

राजा ने बाहर आकर जनता मे मिलने की बजाय उसके एक प्रतिनिधि को ही अन्दर बुलाया। उसने सेठ के अपराध के विषय मे जानकारी चाही। वास्तविकता को समझते हुए भी विकारग्रस्त राजा ने उसे कटु उत्तर दिया—निर्णय करने वाला मैं स्वय हूं और जो मैंने किया है, ठीक किया है। उनके अपराध का उचित दण्ड दिया है। मुखिया ने विद्रोह की बात कही कि राजा उन्होने मनमाना काम करने के लिए नही बनाया है। ऐसा साहस भी एक अहिंसक के समर्थक का ही हो सकता है।

वीरो का भूषण—अहिंसा

"अहिंसा वीरस्य भूषणम्" जो कहा गया है, वह एक वास्तविकता है। अहिंसा से मनुष्य वीर बनता है और वीरो की अहिंसा ही ससार के भ्रष्ट वातावरण मे त्याग और विराग का एक नया उत्साह फैला सकती है। जो यह समझते हैं कि अहिंसा ने सिर्फ कायरता पैदा की है, वे अहिंसा के सच्चे स्वरूप को समझते ही नही। अहिंसा का सच्चा आराधक ऐसा श्रेष्ठ वीर होता है जो दूसरो की तो रक्षा करता है किन्तु अपनी मृत्यु को हथेली पर लिए घूमता है।

यदि श्री सम्भवनाथ की सच्ची भक्ति करनी है और सत्य को सर्वांगत. प्राप्त करना है तो अहिंसा और समतामय जीवन की सच्ची आराधना कीजिये और अपनी अन्तरशक्ति को प्रकट कीजिये, तब देखिये कि क्या दुष्कर से दुष्कर कार्य भी आपके लिए असम्भव रह गया है ? असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने वाले अहिंसक वीर ही होते हैं।

लाल भवन
३०-८-७२



सेवा और उसकी गहनता

"आज म्हारा संभव जिन वर हितचित सूं गुण गास्यां · ...."

भगवान् श्री सभवनाथ की प्रार्थना की प्रथम पक्ति हमे सेवा का सन्देश देती है । सेवा, सेवक और सेव्य का तत्त्व समझने योग्य तो है ही, किन्तु आचरने योग्य अधिक है । सेवा कैसे और कैसी की जाय, किसकी की जाय तथा करने वाले की योग्यता व क्षमता कैसी हो—इस पर पहले चिन्तन किया जाना चाहिये । साधारण सेवा का विषय भी गहन होता है । इसीलिए तो कहा गया है कि "सेवा धर्मः परम गहनः योगिनामप्यगम्य." अर्थात् सेवा करना इतना गहरा और कठिन काम है कि जो बड़े-बडे योगियो तक के लिये अगम्य होता है । फिर जब प्रभु की सेवा का प्रसग हो, तब तो उसकी गहनता का कहना ही क्या ?

प्रभु की सेवा के रूप मे एक की सेवा से सबकी—याने समस्त ससार की सेवा संभव बनती है । आत्मा अनादि काल से इस विराट् विश्व मे परिभ्रमण कर रही है । अनेक प्रकार की सेवाओ का कार्य इससे बन पडा होगा तथा उसका यथोचित फल भी उसे प्राप्त हुआ होगा, परन्तु परमात्मा की वास्तविक सेवा का प्रसंग उससे नही बना है, वरना वह आत्मा भी परमात्मा का रूप ही धारण करके इस परिभ्रमण से मुक्त हो गई होती ।

प्रभु-सेवा का अन्तर्रहस्य

सेवा का सर्वोच्च स्वरूप परमात्मा की सेवा मे ही प्रकट होता है । यह सेवा ससार मे सबसे बढकर सेवा है । प्रार्थना की पक्तियो मे कहा गया है कि यदि परमात्मा की सेवा करनी है तो इस सेवा के अन्तर्रहस्य को हृदय मे गहरे उतार कर उसमे नियोजित होना होगा । सेवा के भेद जाने बगैर अगर उनकी सेवा की गई तो सेवा का स्वरूप विकृत हो जायगा तथा वह निष्फल जायगी । साधारण सेवा और प्रभु-सेवा के भेद को आकना पडेगा ।

किसी सामान्य मनुष्य की सेवा करनी है तो उसके अभाव दूर करके, उमके हाथ-पैर दवा कर तथा उमकी आवश्यकताओ की पूर्ति करके सेवा धर्म को सार्थक बनाया जा सकता है। किन्तु प्रभु तो समार से दूर निराकार-निरजन ज्योति मे ज्योति रूप विराजमान है फिर उनकी मेवा कैसे की जाय ? कैसे सासारिक सेवा मे शरीर के सिवाय अन्य सभी प्राप्त शक्तियो का भी उपयोग किया जाता है। एक पुरुप मानसिक सेवा या वौद्धिक सेवा कर सकता है। समाज के किमी भी क्षेत्र का वायुमडल शुद्ध बनाने की दृष्टि से भी कोई अपनी सेवा देता है। सेवा की अगणित विधियाँ हो सकती है किन्तु परमात्मा की सेवा की विधि तो इन सबसे निराली ही होती है।

मेवा के विभिन्न क्षेत्र और भिन्न रूप हैं। सेवा के पीछे कही स्वार्थ भी होता है और अधिकाशत समारी सेवा के पीछे स्वार्थ होता ही है। स्वार्थ से ऊपर उठकर शुद्ध मानवीय और आत्मीय भावना से जब कोई नि स्वार्थ भावपूर्वक सेवा कार्य मे जुटता है तब उमकी सेवा का वह रूप ही परमात्मा की सेवा के सादृश्य मे आता है। ऐसी सेवा हो और मेवक जब ऐसी नि स्वार्थ भावना से सत्सेव्य की सेवा करे—तब समझना चाहिये कि वह सेवा परमात्मा की मेवा की कोटि मे पहुँच रही है। परमात्मा की सेवा का मच्चा अभिप्राय स्वय परमात्मा, उनकी किमी मूर्ति या अन्य प्रतीक की सेवा-पूजा से नही, वल्कि परमात्म स्वरूप की सेवा से है, और वह भी इस रूप मे कि आप उस सहज सेवा द्वारा अपनी ही आत्मा मे ऐमी त्याग और विशुद्धता की स्थिति ला रहे हैं जिमसे वह परमात्म स्वरूप के निकट ही नही पहुँचे, वल्कि स्वय भी उस दिव्य अजरामर स्वरूप मे सनातन रूप से प्रतिष्ठित हो जाय।

सेवा का स्वभाव मूल मे है

विश्व के विशाल प्रागण मे जितने भी प्राणी हैं, किसी न किमी प्रकार के वर्गों अथवा समूहो मे विभाजित है। वे सेवा का स्वरूप समझ कर सेवा करते हो या नही, किन्तु ज्ञात या अज्ञात रूप से कुछ न कुछ सेवा का कार्य करते रहते हैं। आप जिन क्षेत्रो के अन्दर जिन रूप मे कार्य कर रहे हैं, उनके अन्दर भी अगर सेवा का निसालिन रूप आ जाय तो सवके सव सच्चे सेवक कहला सकते हैं। एक कृपक खेती करता है, और यह सही है कि उसके द्वारा उत्पादित अन्न से सारे ससार का पालन होता है तो यह कम सेवा नही है ? किन्तु सेवा के साथ भावना का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह अपना कृषि-कार्य करते हुए यदि भावना मे नि स्वार्थ वृत्ति ले आता है तो वह विश्व की सेवा ही है। और जो नि स्वार्थ और लोक-कल्याणकारी सेवा है उसी मे परमात्मा की सेवा के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है।

इसी प्रकार एक शिक्षक विद्याध्ययन कराता है। कृपक तो शरीर का पालन करता है किन्तु विद्या सिखाकर शिक्षक मनुष्य के मन और मस्तिष्क को ढालता है। यह उससे भी वढकर सेवा है। किन्तु एक शिक्षक यदि यही समझ कर अपना कार्य

करे कि महीना बीतने पर जो वेतन उसे मिलेगा, वही उसकी समूची उपलब्धि है तो उसका नितान्त आर्थिक दृष्टिकोण उसे सेवक की श्रेणी मे नही पहुँचाता। शुद्ध कर्त्तव्य-निष्ठा एवं पर-कल्याण का भाव जब प्रमुख होगा और उसमे व्यक्त या अव्यक्त रूप से अपना कोई स्वार्थ मिला हुआ नही होगा, तभी सेवा का स्वरूप प्रकट हो सकेगा। प्रत्यक्ष स्वार्थ नही हो किन्तु पद-प्रतिष्ठा या कीर्ति तक का लोभ भी अगर किसी सेवा-कार्य मे मिला हुआ हो तो भी उससे सेवा की झलक नही फूटेगी। इसी प्रकार एक चिकित्सक, अधिकारी, व्यापारी एव अन्य किसी भी वर्ग के नागरिक की वृत्ति सही दिशा मे चले तो उससे सेवा का स्वरूप झलकने लगेगा।

कोई यह सोचे कि अमुक वर्ग का नागरिक अमुक कार्य करके उससे वेतन लेता है या अन्य लाभ उठाता है तो उसका वह कार्य सेवा कैसे कहलायगा ? सेवा-भावना प्रधान होती है और जब कोई भी कार्य करते हुए प्रमुख भावना यह है कि उससे सामूहिक या सार्वजनिक कल्याण का मार्ग खुले और उससे भावनात्मक श्रेष्ठता का वातावरण निर्मित हो तो उसका वह प्रयास सेवा के अन्तर्गत ही आयेगा। चाहे गौण रूप से उस कार्य से उसको निजी लाभ भी हो रहा हो किन्तु उसके प्रति उसका न तो ममत्त्व हो और न आसक्ति।

अनासक्त सेवा

अनासक्ति सेवा का प्रमुख गुण माना गया है। आसक्ति जहाँ मोह और स्वार्थ का मूल है, वहाँ अनासक्ति नि·स्वार्थ वृत्ति की प्रेरिका। इस अनासक्ति योग का गीता मे प्रधान रूप से वर्णन किया गया है और आज तो जन्माष्टमी है, अत. गीता के प्रणेता एव सेवा के मत्रदाता श्रीकृष्ण के आदर्श जीवन पर भी हम विचार करेंगे। अनासक्ति जितनी उज्जवल होती जाती है उतनी सेवा की चमक भी बढ़ती जाती है। उस सेवा की स्थिति मे एक प्रकार का आत्म-विसर्जन का भाव प्रबल हो उठता है।

यह आत्म-विसर्जन ही परमात्मा की सच्ची सेवा का पहला पाया है। व्यक्ति निजत्त्व को विसर्जित कर दे और अपने आपको समष्टि की सेवा मे विलीन कर दे— वह उसके हृदय की श्रेष्ठतम अवस्था बन जाती है। आत्म स्वरूप को सर्वत्र विस्तारित कर देने का दूसरा नाम ही हम 'सेवा' कह सकते है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की वृत्ति बनने पर निजत्त्व कहाँ रह जाता है ? यो कह दें कि निजत्त्व अपने ही सकुचित दायरे मे घिरा न रहकर समस्त विश्व की परिधि तक फैल जाता है। सेवा की इस गहनता को जब सूक्ष्म दृष्टि से समझा जाय तब सेवा, सेव्य एव सेवक के परस्पर सम्बन्धो की गति भी भली प्रकार हृदयगम की जा सकती है।

प्रार्थना मे कहा गया है कि "सेवन कारण पहली भूमिका रे ··· ·····"। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कृषक बीज बोने के पहले भूमि को तैयार करता है—

उसे उर्वर एवं कृषि योग्य बनाता है, तब वह उसमे यथासमय बीज बोता है। उसी प्रकार एक सेवक का भी यह धर्म है कि वह सेवा की आराधना प्रारभ करने से पूर्व यह अन्तरावलोकन करे कि सेवा योग्य उसकी आत्मिक पृष्ठभूमि सही तौर पर निर्मित हो चुकी है या नही। परमात्मा की सेवा करना चाहते हो तो पहले उस सेवा के योग्य अपने आप का स्वभाव, चरित्र एव नियम बनाओ। अयोग्य विधि से प्रभु की सेवा सभव नही होती है। इसी प्रार्थना मे इस योग्यता के निर्धारण के रूप मे तीन शब्दो का उल्लेख आया है। वे तीन शब्द है—अभय, अद्वेष और अखेद। ये तीनो शब्द मस्तिष्क की तीन अवस्थाओं के प्रतीक हैं। मस्तिष्क की ये अवस्थाएँ जब अन्तःकरण को छूती हैं तो उनके साथ कर्म की जो धारा बहती है, वही सच्ची सेवा का रूप ग्रहण करती है।

सेवा की तीन अवस्थाएँ

सेवा की पृष्ठभूमि इन तीन अवस्थाओ के आधार पर निर्मित होती है। प्रभु की सेवा के लिये अभय बनना आवश्यक है। प्रभु की सेवा करना, चाहे और फिर भी डर बना रहे तो वहाँ उस सेवा की भूमिका नही बनती है। अभय का अर्थ है—भय का नितान्त अभाव—न भय देना, न भय खाना और मृत्यु मुख मे जाते हुए प्राणियो को अभयदान देना। अहिंसा की आराधना का सीधा प्रभाव अभय वृत्ति के विकास रूप मे फलित होता है। जब अभय वृत्ति का विकास होता है तो मगल और कल्याण का प्रसग आता है। सेवा प्रत्येक का मगल और कल्याण चाहती है, बल्कि इसी उद्देश्य के लिये वह नियोजित होती है।

अभय वृत्ति विघ्नहरण भी होती है। एक निर्भीक व्यक्ति विघ्न को विघ्न ही कब मानता है? वह तो विघ्नो के समूह को काटता हुआ मगलमय लक्ष्य तक पहुँच जाता है। जो अभय है, वह निश्चय ही निर्विघ्न है। इस कारण अभय वृत्ति के साथ की जाने वाली सेवा मगलवाहिनी बनती ही है। ससार मे आप भी कई मागलिक कार्यो को करते हुए नारियल, कुकुम आदि पदार्थो का प्रयोग करते है। किन्तु समझने की बात है कि नाशवान पदार्थो से विघ्नो का निवारण कैसे हो सकता है? इस हेतु तो अन्तर्शक्ति का ही प्रभाव फैलना चाहिये जो विघ्नो को दूर से ही भगा दे। अभय-वृत्ति ऐसी आन्तरिक शक्ति की प्रतीक रूप होती है। आत्मिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण अभय वृत्ति अविनाशी भी बन जाती है। ऐसी अभय वृत्ति से विघ्न दूर से ही भाग जाते है और यदि टकराते भी है तो अविनाशी के आगे नाशवान की क्या स्थिति कि वह टिक सके। विघ्न पल भर मे चूर-चूर हो जाते हैं और चारो तरफ मंगलमय वातावरण छा जाता है।

अभय वृत्ति से विश्वास और निष्ठा

अभय वृत्ति के विकास के लिये आवश्यकता है—अपार विश्वास और दृढ निष्ठा की। आज का मानव मस्तिष्क छोटी-छोटी बातो से घबराता है छोटे-छोटे कार्यो

करे कि महीना बीतने पर जो वेतन उसे मिलेगा, वही उसकी समूची उपलब्धि है तो उसका नितान्त आर्थिक दृष्टिकोण उसे सेवक की श्रेणी मे नही पहुँचाता । शुद्ध कर्त्तव्य-निष्ठा एवं पर-कल्याण का भाव जब प्रमुख होगा और उसमे व्यक्त या अव्यक्त रूप से अपना कोई स्वार्थ मिला हुआ नही होगा, तभी सेवा का स्वरूप प्रकट हो सकेगा । प्रत्यक्ष स्वार्थ नही हो किन्तु पद-प्रतिष्ठा या कीर्ति तक का लोभ भी अगर किसी सेवा-कार्य मे मिला हुआ हो तो भी उससे सेवा की झलक नही फूटेगी । इसी प्रकार एक चिकित्सक, अधिकारी, व्यापारी एव अन्य किसी भी वर्ग के नागरिक की वृत्ति सही दिशा मे चले तो उससे सेवा का स्वरूप झलकने लगेगा ।

कोई यह सोचे कि अमुक वर्ग का नागरिक अमुक कार्य करके उससे वेतन लेता है या अन्य लाभ उठाता है तो उसका वह कार्य सेवा कैसे कहलायगा ? सेवा-भावना प्रधान होती है और जब कोई भी कार्य करते हुए प्रमुख भावना यह है कि उससे सामूहिक या सार्वजनिक कल्याण का मार्ग खुले और उससे भावनात्मक श्रेष्ठता का वातावरण निर्मित हो तो उसका वह प्रयास सेवा के अन्तर्गत ही आयेगा । चाहे गौण रूप से उस कार्य से उसको निजी लाभ भी हो रहा हो किन्तु उसके प्रति उसका न तो ममत्त्व ही और न आसक्ति ।

अनासक्त सेवा

अनासक्ति सेवा का प्रमुख गुण माना गया है । आसक्ति जहाँ मोह और स्वार्थ का मूल है, वहाँ अनासक्ति नि स्वार्थ वृत्ति की प्रेरिका । इस अनासक्ति योग का गीता मे प्रधान रूप से वर्णन किया गया है और आज तो जन्माष्टमी है, अतः गीता के प्रणेता एव सेवा के मत्रदाता श्रीकृष्ण के आदर्श जीवन पर भी हम विचार करेंगे । अनासक्ति जितनी उज्जवल होती जाती है उतनी सेवा की चमक भी बढती जाती है । उस सेवा की स्थिति मे एक प्रकार का आत्म-विसर्जन का भाव प्रबल हो उठता है ।

यह आत्म-विसर्जन ही परमात्मा की सच्ची सेवा का पहला पाया है । व्यक्ति निजत्त्व को विसर्जित कर दे और अपने आपको समष्टि की सेवा मे विलीन कर दे—वह उसके हृदय की श्रेष्ठतम अवस्था बन जाती है । आत्म स्वरूप को सर्वत्र विस्तारित कर देने का दूसरा नाम ही हम 'सेवा' कह सकते हैं । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की वृत्ति बनने पर निजत्त्व कहाँ रह जाता है ? यो कह दें कि निजत्त्व अपने ही संकुचित दायरे मे घिरा न रहकर समस्त विश्व की परिधि तक फैल जाता है । सेवा की इस गहनता को जब सूक्ष्म दृष्टि से समझा जाय तब सेवा, सेव्य एव सेवक के परस्पर सम्बन्धो की गति भी भली प्रकार हृदयगम की जा सकती है ।

प्रार्थना मे कहा गया है कि "सेवन कारण पहली भूमिका रे···· ·····" । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कृषक बीज बोने के पहले भूमि को तैयार करता है—

उसे उर्वर एव कृषि योग्य बनाता है, तब वह उसमे यथासमय बीज बोता है। उसी प्रकार एक सेवक का भी यह धर्म है कि वह सेवा की आराधना प्रारभ करने से पूर्व यह अन्तरावलोकन करे कि सेवा योग्य उसकी आत्मिक पृष्ठभूमि सही तौर पर निर्मित हो चुकी है या नही। परमात्मा की सेवा करना चाहते हो तो पहले उस सेवा के योग्य अपने आप का स्वभाव, चरित्र एव नियम बनाओ। अयोग्य विधि से प्रभु की सेवा सभव नहीं होती है। इसी प्रार्थना मे इस योग्यता के निर्धारण के रूप मे तीन शब्दों का उल्लेख आया है। वे तीन शब्द है—अभय, अद्वेष और अखेद। ये तीनो शब्द मस्तिष्क की तीन अवस्थाओं के प्रतीक हैं। मस्तिष्क की ये अवस्थाएँ जब अन्त करण को छूती हैं तो उनके साथ कर्म की जो धारा बहती है, वही सच्ची सेवा का रूप ग्रहण करती है।

सेवा की तीन अवस्थाएँ

सेवा की पृष्ठभूमि इन तीन अवस्थाओ के आधार पर निर्मित होती है। प्रभु की सेवा के लिये अभय बनना आवश्यक है। प्रभु की सेवा करना, चाहे और फिर भी डर बना रहे तो वहाँ उस सेवा की भूमिका नही बनती है। अभय का अर्थ है—भय का नितान्त अभाव—न भय देना, न भय खाना और मृत्यु मुख मे जाते हुए प्राणियो को अभयदान देना। अहिंसा की आराधना का सीधा प्रभाव अभय वृत्ति के विकास रूप मे फलित होता है। जब अभय वृत्ति का विकास होता है तो मगल और कल्याण का प्रसग आता है। सेवा प्रत्येक का मगल और कल्याण चाहती है, बल्कि इसी उद्देश्य के लिये वह नियोजित होती है।

अभय वृत्ति विघ्नहरण भी होती है। एक निर्भीक व्यक्ति विघ्न को विघ्न ही कब मानता है? वह तो विघ्नो के समूह को काटता हुआ मगलमय लक्ष्य तक पहुँच जाता है। जो अभय है, वह निश्चय ही निर्विघ्न है। इस कारण अभय वृत्ति के साथ की जाने वाली सेवा मगलवाहिनी बनती ही है। ससार मे आप भी कई मांगलिक कार्यों को करते हुए नारियल, कुकुम आदि पदार्थों का प्रयोग करते है। किन्तु समझने की बात है कि नाशवान पदार्थों से विघ्नो का निवारण कैसे हो सकता है? इस हेतु तो अन्तशक्ति का ही प्रभाव फैलना चाहिये जो विघ्नों को दूर से ही भगा दे। अभय-वृत्ति इसी आन्तरिक शक्ति की प्रतीक रूप होती है। आत्मिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण अभय वृत्ति अविनाशी भी बन जाती है। ऐसी अभय वृत्ति से विघ्न दूर से ही भाग जाते है और यदि टकराते भी है तो अविनाशी के आगे नाशवान की क्या स्थिति कि वह टिक सके। विघ्न पल भर मे चूर-चूर हो जाते हैं और चारो तरफ मंगलमय वातावरण छा जाता है।

अभय वृत्ति से विश्वास और निष्ठा

अभय वृत्ति के विकास के लिये आवश्यकता है—अपार विश्वास और दृढ निष्ठा की। आज का मानव मस्तिष्क छोटी-छोटी बातों से घबराता है, छोटे-छोटे कार्यों

मे भी सशकित वन जाता है एव छोटी-छोटी परिस्थितियो मे भी आत्म-विश्वास को खो देता है। वह ठोस एव महत्त्वपूर्ण कार्य कलापो के स्वरूप को समझ ही नही पाता है। उसकी सकल्प शक्ति अशक्त एव असहाय सी वनी हुई है तो उसका मन बुजदिल और कमजोर हो गया है। वह हर छोटी हरकत को खतरा समझकर डरने लग जाता है। उसका साहस हर छोटे मौके पर जवाब दे देता है। आज जो मानव-मन की यह स्थिति है वह एक तरह से हर समय भयाक्रान्त वनी रहती है। भयपूर्ण ऐसी परिस्थिति मे वह परापेक्षी और परावलम्बी ही तो बन सकता है। ऐसी दयनीय स्थिति मे सेवा-धर्म के पालन और उसकी गहनता को समझने का सवाल ही नही उठता है।

अहिंसा के अनुपालन से अभय वृत्ति का विकास होता है, और अभय वृत्ति से सेवा वन पडती है जिसके फलस्वरूप समतामय जीवन का आविर्भाव होता है। ज्ञानी जनो का कथन है कि तू साहसी वन, भय को कही भी स्थान मत दे तथा स्वावलम्वन का ही आश्रय ग्रहण कर। स्वयं की क्षमता और आस्था होगी तो चारो ओर से सहयोग भी मिल सकेगा। कहा है कि कायर और अशक्त की सहायता तो भगवान् भी नही करता। अगर अपनी पूँजी सुरक्षित है तो दूसरो की सहायता भी मिल सकती है और मूल की पूँजी नही है तो दूसरे भी उपेक्षा ही करेंगे। स्वय के जीवन मे अभय और कल्याण का प्रसग है तो वह दूसरो को भी उस मार्ग पर अपने साथ ले जा सकता है। यह सोचे कि मैं स्वय अभय के रूप मे रहूँ और अपने आप को दुनिया को अभयदान देने के लिये भी तत्पर रखूँ।

सेवा की भूमिका के रूप मे अभय के साथ अद्वेप और अखेद अवस्थाओ का भी उल्लेख है। किन्तु आज पहले जन्माष्टमी के प्रसंग पर अनासक्त सेवा की व्याख्या करने वाले गीताकार श्रीकृष्ण के आदर्श जीवन पर विचार करना आवश्यक है। यह जन्माष्टमी उस महापुरुष की स्मृति-तिथि है, जिन्होंने महाभारत और गीता की साथ-साथ रचना की—शौर्य और योग को साथ-साथ विठाया। साधारणतया सभी स्थानो पर उनका जन्म-महोत्सव मनाया जाता है तथा उनके जीवन के प्रसगो पर प्रकाश डाला जाता है।

हरि के गुण गाऊँ मैं ....

श्रीकृष्ण-जन्म साधारण जन्म नही था। एक महापुरुष का जन्म सुखकर शय्या पर नही, कारागार की कठिनाइयो के बीच हुआ था। कंस के भीषण अत्याचारो से पीडित देवकी व वसुदेव की यह सातवी सन्तान थी जिसके भी कस द्वारा मारे जाने का खतरा था। किन कष्टो के बीच वसुदेव अपने नवजात शिशु को गोकुल ले गये और उसकी जीवन रक्षा मे सफल हो सके—उनकी कष्ट-कथा सभी जानते हैं। यह उनकी अभय वृत्ति ही थी जिसकी सहायता से वसुदेव श्रीकृष्ण को सुरक्षित कर पाये, और चूँकि श्रीकृष्ण स्वयं अभयावतार थे—अभय वृत्ति का प्रभाव फैला ही।

एक भक्त जन जब गाता है कि—

हरि के गुण गाऊँ मैं, हरि के गुण गाऊँ रे।
हरि लीला कहिये सुनाऊँ, हरि के गुण गाऊँ रे॥

यहाँ हरि के गुण गाने की बात क्यों कही गई है ? गुणधारी के ही तो गुण गाये जाते हैं, ताकि उनके गुणों को ग्रहण करने की प्रेरणा बन सके। यहाँ हरि का अर्थ है जो दुःखों का हरण करते हों। जनता को सुख और शान्ति का बोध दे—वे हरि। श्रीकृष्ण का समग्र जीवन जन-दुःख-हरण का ही तो जीवन है, चाहे वह गौओं का चराना हो, गोवर्धन को उठाना हो या महाभारत मे गीता को सुनाना हो। गीता उनकी अमर कृति इसलिये है कि उसमें एक सम्पूर्ण दर्शन की व्याख्या है। कर्मण्यता का मन्त्र फूँकने वाला यह ग्रंथ अनासक्त कर्म की अपूर्व प्रेरणा प्रदान करता है।

गीता का अमर स्वर—निष्काम सेवा

गीता का मूल दर्शन महाभारत मे प्रस्फुटित हुआ। महाभारत का मूल कारण अन्याय था। अन्याय के समक्ष कोई नपुंसकता धारण करे—यह श्रीकृष्ण को सह्य नहीं था और अन्याय का प्रतिरोध करने के लिये जिस रूप मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ललकारा—वह रूप ही गीता का रूप है। निष्काम कर्म—गीता का अमर स्वर है। यह स्वर अभय का स्वर है—यह स्वर आत्मशक्ति का स्वर है। गीता की प्रेरणा एक तरह सिर्फ अर्जुन को ही नहीं थी—यह उन सबके लिये प्रेरणा का स्वर है जो अन्याय के विरुद्ध अपना सिर झुका लेते हैं और खून का घूँट पीकर उस अन्याय को सहते रहते हैं, मगर न्याय की रक्षा मे अपने सर्वस्व का बलिदान करने के लिए तैयार नही हो पाते हैं। अन्याय करने और सहने वाले—दोनों को एक ही अपराध कोटि मे लिया गया है। इस कारण गीता न्याय-रक्षा और नीति-रक्षा का अमोघ स्वर है।

श्रीकृष्ण को गोपाल भी कहा है, क्योंकि वे गायों की सेवा करते थे। अरे, इतने बड़े महापुरुष और गायों की सेवा मे अपना समय लगाते थे! आज के समर्थ पुरुष को तो मनुष्यों तक की सेवा करने का न प्रयास है, न समय। तो श्रीकृष्ण बड़े थे या आप बड़े हैं ? जरा गम्भीरता से विचारने का विषय है कि व्यक्ति बड़ा नहीं होता है, सच्ची सेवा उसे बड़ा बनाती है। गायों की सेवा करके भी श्रीकृष्ण महापुरुष कहलाए गये और आपकी वृत्ति दुःखी-दर्दी मनुष्यों की सेवा करने की ओर भी नहीं झुकती—यह कैसी वस्तुस्थिति है ?

जन्माष्टमी के दिन लोग बाहर के आयोजन रच लेते हैं। किन्तु इसका असली प्रयोजन जो है वह है अन्तरावलोकन। हम अपने अन्तर में झांकें और आलोचना करें कि क्या श्रीकृष्ण के विविध गुणों में से एकाध भी गुण हमने क्रियात्मक रूप में अपनाया है ? महापुरुष के गुण आडम्बर के निमित्त ही नहीं गाना चाहिये, उन्हें तो

माना है इस भावना से कि उन गुणों को उनके भक्त भी अपने व्यावहारिक जीवन में उतारें।

इन महापुरुष के जीवन का परम आदर्श गुण था सेवा और निःस्वार्थ सेवा—कहीं भी अपना मान रखने के सद् विचार से सेवा। सुदामा की कृष्ण ने सेवा की तो क्या उसमें उनका कोई स्वार्थ था? यह उनकी प्रतीकात्मक सेवा थी कि आप कितनी ही ऊँची से ऊँची स्थिति पर भी पहुँच जाओ और उस स्थिति में नीचा से नीचा भी साधारण कोई आदमी आ जाय तो आप इतनी विनम्रतापूर्वक उसकी सेवा करो, चाहे उसके लिये अपना सर्वस्व ही क्यों न लुटा दो।

सेवक और सेव्य की गुण-गरिमा

सेवा की जितनी महिमा बताई जाय, वह कम ही होगी। उसकी गहनता में जितना भीतर प्रवेश किया जाय—उसकी गहनता अथाह बनती जायगी। सेवा ऐसा विराट् गरिमामय गुण है जिससे सेवक और सेव्य—दोनों की गुण-गरिमा होती है। इसीलिये कहा गया है कि असंभव कार्यों को भी संभव कर दिखाने की क्षमता प्राप्त करने के लिये आप भगवान् श्री संभवनाथ की सेवा करें।

भगवान् की सेवा क्या करनी है, वस्तुतः इस रूप में स्वयं अपनी आत्मा की ही सेवा करनी है कि वह कर्म-मैल से मुक्त होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करके विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर ले। आत्मशक्ति का मूल अहिंसा में है—यह आप जानते हैं। अहिंसा से अभय की निष्पत्ति होती है और जो अभय है, वही सच्चा सेवक हो सकता है। जो सच्चा सेवक है, वही विषमता की सारी जंजीरें काट कर समाज का न सिर्फ उद्धारक, बल्कि श्रेष्ठ प्रतीक भी बन जाता है। समता मानव जीवन [illegible] है।

[illegible]
३१-८-[illegible]



जो अभय तो धर्म की जय !

"सेवन कारण पहलो भूमिका रे . . ."

श्री सम्भवनाथ भगवान् के चरणो मे प्रार्थना की पक्तियो का उच्चारण प्रतिदिन की तरह हमने आज भी किया। परमात्मा को किसी न किसी रूप मे याद कर ही लेना चाहिये क्योकि यदि सर्वश्रेष्ठ कोई मागलिक तत्त्व है तो वह परमात्म स्वरूप ही। किसी भी कार्य के प्रारम्भ मे मगलाचरण का तात्पर्य ही यह है कि अविनाशी तत्त्व के नाम-स्मरण से ही निर्विघ्नता की स्थिति सर्वत्र उपस्थित हो जाती है तथा उस कार्य की समाप्ति तक भी कोई विघ्न उत्पन्न नही होता।

प्रार्थना की इन पक्तियो के उच्चारण मे भी यही अर्थ निहित है। मगलाचरण हम करें तो यह ज्ञान भी हमे होना चाहिए कि हम किस कार्य को प्रारम्भ कर रहे है? क्या हम किसी सासारिक लालसा की पूर्ति के लिए प्रभु का नाम-स्मरण करना चाहते है अथवा विषय-वासनाओ की कामना का उद्देश्य लेकर परमात्मा की सेवा के इच्छुक है?

हृदय को टटोलें !

वास्तव मे मानव जीवन के सदुपयोग रूप कौनसा श्रेष्ठ काय करणीय है—कौनसा लक्ष्य साध्य है? इस हेतु अन्तर्हृदय को टटोलने की आवश्यकता होगी। यह "मैं" जिसे हम अपने आप को मानते हैं—कौन है, कैसी स्थिति मे है और किस मजिल पर उसे पहुँचना है? इन प्रश्नो के उत्तरो की जब खोज की जायगी तो यह स्पष्ट होता जायगा कि यह "मैं" जो बाहर दीख रहा है, वह नही है। वह तो अन्दर मे कहीं समाया हुआ है जो अन्तर-अनुभूति के एक-एक स्पन्दन मे परिलक्षित होता है। इसे ही आत्म-तत्त्व की सज्ञा दी गई है।

इस दृष्टि से हृदय को टटोलने का अर्थ होगा कि हम अपने ही अन्दर झाँकें और परखें कि यह "मैं" कहाँ दबा पडा है, किन लालसाओं और पदार्थों ने उसे दबा रखा है और अब किस साधना से उसे ऊपर उठाकर उसका वास्तविक स्थान उसे दिया

गाना है इस भावना से कि उन गुणो को उनके भक्त भी अपने व्यावहारिक जीवन मे उतारे ।

उन महापुरुष के जीवन का परम आर्दश गुण था सेवा और निःस्वार्थ सेवा—प्रत्येक का मगल करने के सद् बिचार से सेवा । सुदामा की कृष्ण ने सेवा की तो क्या उसमे उनका कोई स्वार्थ था ? यह उनकी प्रतीकात्मक सेवा थी कि आप कितनी ही ऊँची से ऊँची स्थिति पर भी पहुँच जाओ और उस स्थिति मे नीचा से नीचा भी आपका कोई आत्मीय आ जाय तो आप इतनी विनम्रतापूर्वक उसकी सेवा करो, चाहे आप उसके लिये अपना सर्वस्व ही क्यो न लुटा दो ।

सेवक और सेव्य की गुण-गरिमा

सेवा की जितनी महिमा बताई जाय, वह कम ही होगी । उसकी गहनता मे जितना भीतर प्रवेश किया जाय—उसकी गहनता अथाह बनती जायगी । सेवा ऐसा विशिष्ट आत्मिक गुण है जिससे सेवक और सेव्य—दोनो की गुण-गरिमा होती है । इसीलिये संकेत किया गया है कि असभव कार्यों को भी सभव कर दिखाने की क्षमता उत्पन्न करने के लिये आप भगवान् श्री सभवनाथ की सेवा करें ।

भगवान् की सेवा क्या करनी है, वस्तुत इस रूप मे स्वय अपनी आत्मा की ही सेवा करनी है कि वह कर्म-मैल से मुक्त होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करके विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर ले । आत्मशक्ति का मूल अहिंसा मे है—यह आप जानते है । अहिंसा से अभय की स्थिति आती है और जो अभय है, वही सच्चा सेवक भी बन सकता है । जो सच्चा सेवक है, वही विषमता की सारी जजीरें काट कर समता का न सिर्फ उपासक, बल्कि श्रेष्ठ प्रतीक भी बन जाता है । समता मानव जीवन की उन्नायक भावना है ।

लाल भवन
३१-८-७२



जो अभय तो धर्म की जय !

"सेवन कारण पहलो भूमिका रे · · ·"

श्री सम्भवनाथ भगवान् के चरणो मे प्रार्थना की पक्तियो का उच्चारण प्रतिदिन की तरह हमने आज भी किया। परमात्मा को किसी न किसी रूप मे याद कर ही लेना चाहिये क्योंकि यदि सर्वश्रेष्ठ कोई मागलिक तत्त्व है तो वह परमात्म स्वरूप ही। किसी भी कार्य के प्रारम्भ मे मगलाचरण का तात्पर्य ही यह है कि अविनाशी तत्त्व के नाम-स्मरण से ही निर्विघ्नता की स्थिति सर्वत्र उपस्थित हो जाती है तथा उस कार्य की समाप्ति तक भी कोई विघ्न उत्पन्न नही होता।

प्रार्थना की इन पक्तियो के उच्चारण मे भी यही अर्थ निहित है। मगलाचरण हम करें तो यह ज्ञान भी हमे होना चाहिए कि हम किस कार्य को प्रारम्भ कर रहे है ? क्या हम किसी सासारिक लालसा की पूर्ति के लिए प्रभु का नाम-स्मरण करना चाहते है अथवा विषय-वासनाओ की कामना का उद्देश्य लेकर परमात्मा की सेवा के इच्छुक है ?

हृदय को टटोलें !

वास्तव मे मानव जीवन के सदुपयोग रूप कौनसा श्रेष्ठ कार्य करणीय है—कौनसा लक्ष्य प्राप्य है ? इस हेतु अन्तर्हृदय को टटोलने की आवश्यकता होगी। यह "मैं" जिसे हम अपने आप को मानते हैं—कौन है, कैसी स्थिति मे है और किस मजिल पर उसे पहुँचना है ? इन प्रश्नो के उत्तरो की जब खोज की जायगी तो यह स्पष्ट होता जायगा कि यह "मैं" जो बाहर दीख रहा है, वह नही है। वह तो असल मे वहाँ समाया हुआ है जो अन्तर-अनुभूति के एक-एक स्पन्दन मे परिलक्षित होता है। इसे ही आत्म-तत्त्व की सज्ञा दी गई है।

इस दृष्टि से हृदय को टटोलने का अर्थ होगा कि हम अपने ही अन्दर झाँकें और परखें कि यह "मैं" कहाँ दबा पड़ा है, किन लालसाओं और पदार्थों ने उसे दबा रखा है और अब किस साधना से उसे ऊपर उठाकर उसका वास्तविक स्थान उसे दिया

जा सकता है ? इसी चिन्तन मे आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का अन्तर तथा उन्हे एकरूप बनाने का रहस्य प्रकट हो सकता है। इन दोनो स्वरूपो का जो वर्तमान अन्तर है—उसके समक्ष ही निजात्मा की मलिनता स्पष्ट होती है। इसी उद्देश्य से परमात्मा के विमल स्वरूप की ओर दृष्टिपात करने का निर्देश किया जाता है, ताकि उसे देखकर और उसकी निर्मलता मे निजात्मा की मलिनता का माप तौल करके यह निर्णय किया जा सके कि कितने मैल को कैसे धोने से वह अजरामर निर्मलता हमे भी प्राप्त हो सकेगी ? यही प्रत्येक भव्य आत्मा का साध्य है और इसी साध्य को प्राप्त करने के श्रेष्ठ कार्य का जब प्रारम्भ किया जाता है तो मंगलाचरण आवश्यक है बल्कि साध्य की ओर निरन्तर गति करते हुए भी प्रभु का नामस्मरण और उनका स्वरूप-दर्शन अनिवार्य है। इसी हेतु प्रभु-सेवा को सर्वोत्कृष्ट साधन बताया गया है और उसके आचरण पर बल दिया गया है।

सेवा का सामान्य महत्त्व

प्रभु की सेवा के विशिष्ट महत्व को हृदयंगम किया जाय, उसके पूर्व सेवा के सामान्य महत्व को समझ लेना चाहिये। यदि सेवा के महत्व को साधारण रूप से भी समझने की चेष्टा नही की जाय तो यह सम्भव है कि सेवा के बदले कुसेवा का ही आचरण हो जाय। एक वृद्ध पुरुष है, उसका स्वास्थ्य दुर्बल है—शरीर का प्रत्येक अगोपाग अशक्त है, उस समय मे यदि कोई उसकी सेवा करने की इच्छा करता है, किन्तु यह नही समझना चाहता कि किस प्रकार की सेवा की जानी चाहिए और अपनी मनमानी करता है तो वह उस वृद्ध पुरुप को अपनी सेवा के बावजूद भी शान्ति नही पहुँचा सकेगा। इसे ही सेवा का भेद जानना कहा जाता है। सेव्य कैसा है, उसे किस प्रकार की सेवा की आवश्यकता है—इसका भेद-रहस्य जानकर ही जब सेवक सेवा मे निमग्न होता है, तभी उसकी सेवा सफल बन सकती है।

सेव्य के योग्य और अनुरूप सेवा की धारा प्रवाहित होनी चाहिए। गृहस्थाश्रम मे रहने वाले इन्सान की सेवा गृहस्थ व्यक्ति किन तौर-तरीको से करे और साधु अवस्था मे रहने वाले महानुभाव की सेवा साधु जन किस प्रकार से करें—इसमे भी अन्तर है। सन्तो की सेवा सन्त ही कर सकते हैं। सन्तो की सेवा है—गोचरी, पानी, औपधि आदि लाकर देना तथा कदाचित् आवश्यकता महसूर हो तो हाथ-पैर दबाना अथवा अन्य प्रकार से सेवा-सुश्रूसा करना। ये सेवा कार्य गृहस्थ न करे—ऐसा प्रावधान है। सन्तो के ये कार्य अन्य सन्त ही कर सकते हैं—गृहस्थ की स्थिति के अन्दर के ये कार्य नही है। यदि गृहस्थ सन्तो की सेवा के भेद को न समझकर सन्तो के हाथ-पैर दबाने लग जाय, उनका सामान उठाए या गोचरी वगैरा लाकर दे तो वह सन्त के लिये दोप का कारण बन जायगा। ऐसी सेवा कुसेवा का रूपक बन जाती है। कुसेवा से सन्त का जीवन ऊपर उठने के बजाय पतित होने लग जायगा।

सन्तों के योग्य कोई सेवा यदि गृहस्थ कर सकता है तो वह है गोचारी की दलाली याने प्रासुक कल्पनीय वस्तु के लिए उनको ले जाकर यथा स्थान वतला देना । गृहस्थ के लिए यह सन्त-सेवा वन सकती है । सन्तो की मर्यादा को ख्याल मे रखते हुए और गृहस्थ अपनी भी मर्यादा मे रहते हुए जब सन्तों की सेवा करता है तो यह माना जायगा कि वह सेवा के सही प्रकार को समझता है । सन्त जोकि प्रभु के मार्ग की ओर अग्रसर होने वाले हैं—उनके निर्मलताभिमुखी जीवन की सेवा के प्रकार को समझे बिना यदि सन्तों की सेवा की जाती है तो वह कुसेवा के रूप मे परिणत होकर सन्त एव गृहस्थ—दोनों प्रकार के जीवनों के लिये घातक वन जाती है ।

प्रभु की सेवा का भेद

सन्त के बाद ही ईश्वर का क्रम आता है । ईश्वर की सेवा, उनकी सेवा के भेद और उनके स्वरूप को समझकर ही प्रभु की सच्ची सेवा सम्पादित की जा सकती है । ईश्वर की सेवा, सन्त की सेवा की तरह सम्भव नही होती है । कारण कि सन्त की तरह ईश्वर के लिये भिक्षा-पानी का प्रसग नही है या गोचरी की दलाली का सवाल नही है अथवा किसी प्रकार की निजी वस्तु की आवश्यकता भी ईश्वर को नही होती है । इसलिए गृहस्थ किसी प्रकार शारीरिक दृष्टि से परमात्मा की सेवा नही कर सकता है ।

सेवा के भेद को इस दृष्टि से सम्यक् प्रकार से समझा जाय तो विदित होगा कि मानसिक, बौद्धिक, वाचिक, आत्मिक आदि कई आन्तरिक क्षेत्र हैं जिनकी सहायता से प्रभु की सेवा करके अन्दर ही अन्दर सुख-सन्तोष का अनुभव किया जा सकता है । यह गहराई से समझने की बात है कि प्रभु की सेवा प्रभु के लिये नही, वरन् अपनी ही आन्तरिक अनुभूति एव आत्मिक उन्नति के लिए होती है । भगवान् का स्तुति-गान यदि किया गया तो उससे भगवान् को लाभ मिलेगा—यह कतई कल्पना या वस्तुस्थिति नही है । यदि कोई ऐसी कल्पना करता है तो यह मानना चाहिये कि वह सेवा के मर्म को ही नही समझता है और न ही प्रभु के स्वरूप को ही सही तौर पर हृदय मे अंकित करता है ।

प्रभु का स्तुति-गान अथवा स्वरूप-दर्शन वह माध्यम है, जिसके द्वारा सेवक अपनी ही आत्मा पर चिपके कर्म-मैल को धोने की आकाक्षा रखता है जिससे कि उसका शुद्धिकरण हो तथा शनै-शनै सतत साधना के बल पर वह शुद्धिकरण परमात्मा की परम निर्मलता की उच्चता के समकक्ष बन जाय । तो अब सोचिये कि यह सेवा किसके लिए लाभप्रद है ? सेव्य के लिये अथवा सेवक के लिये ? निश्चय ही वह सेवक के लिए लाभप्रद है । इसी पृष्ठभूमि पर सेवा के भेद को भली-भांति समझना चाहिये ।

यदि सेवा के भेद को समझने की दृष्टि से बुद्धि मे विशुद्ध विचारों का प्रसार कोई करे तो उसके निमित्त रूप प्रभु-सेवा भी मानी जा सकती है । प्रभु सेवा के

परिणामो के परिणामस्वरूप ही तो सेवक की वुद्धि का परिमार्जन होता है। इस तरह प्रभु सेवा सभी प्रकार से सेवक के लिए फलदायी बनती है।

प्रभु-सेवा की पृष्ठभूमि

परमात्मा का भजन कौन करता है? वही तो जिसके मन मे किसी का कोई डर नही हो, क्योकि भयाक्रान्त व्यक्ति कभी अपने मन को स्थिर नही कर सकता, और अस्थिर चित्ती कभी एकाग्रता से परमात्मा का भजन नही कर सकता है। दूसरी ओर जो जितना अधिक परमात्मा का भजन करता है, उसका अन्तर्मन अधिक से अधिक भयरहित भी वनता जाता है—बाहर के जितने भय है उनसे उसे मुक्ति मिलती जाती है। तो प्रभु की सेवा के लिए निर्भयता पहला आवश्यक गुण है। मानसिक धरानल पर मूलतः यदि कोई अभय वृत्ति ग्रहण कर लेता है तो उसे एक विशिष्ट प्रकार की आन्तरिक शक्ति अवश्य ही उपलब्ध होती है।

भगवान् सम्भवनाथ की प्रार्थना की इन पक्तियो मे इसी सत्य को स्पष्ट किया गया है—

"सेवन कारण पहली भूमिका रे
अभय, अद्वेप, अखेद।"

अभय की दशा यदि मनुष्य के मन मे धुर रूप मे समा जाय तो यह सत्य है कि प्रभु-सेवा की पृष्ठ-भूमि का निर्माण उसके अन्तर मे हो रहा है। धुर का अर्थ प्रथम है और उसका अर्थ स्थिरता भी होता है। यदि अपने अन्तर मे सेवा के पहले भेद की दृष्टि से कोई अभय की पक्की मन स्थिति का निर्माण कर लेता है तो उसके अपने सम्पूर्ण आचरण मे भी अभय की स्थिति समुत्पन्न हो जाती है। विचार और आचार मे इस अभय की स्थिति का जव समावेश हो जाता है तो उसके लिए परमात्मा के स्वरूप दर्शन का समय भी निकट आ जाता है। इसके माथ ही वह अपने "मैं" के स्वरूप को भी मूलत और विकृततः पूरे तौर पर समझ लेता है।

जीवन मे अभय वृत्ति के समावेश नही हो जाने का सीधा-सादा अर्थ यह माना जायगा कि वह विभिन्न प्रकार के भयो से पीडित है तथा प्रतिक्षण उसका चित्त भय-भीतता से अस्थिर वना रहता है। अभय की विपरीत मनःस्थिति भयपूर्ण ही तो होती है। भय के संस्कार जव तक मन और मस्तिष्क मे वने रहते है, वह प्रभु सेवा तो क्या कर सकता है, अपने साधारण सासारिक कार्यों को भी कामयावी के साथ पूरे नही कर मकेगा।

भय है तो प्रभु-सेवा नहीं

आप स्वय अनुभव करिये—किसी भी महत्वपूर्ण कार्य के लिए आप वैठे हुए है और आपके कान पर कुछ ऐसे शब्द आये कि सिह आ गया है। इन शब्दो को

सुनने के साथ ही सुने शेर की गर्जना भी आपने सुन ली, तब बताइये कि क्या उस समय आप शान्ति से वहीं बैठे रह सकेंगे और अपने महत्वपूर्ण कार्य में जुटे रह सकेंगे ? ध्यान और साधना तो दूर रही, आप शायद उस स्थान पर टिके भी नहीं रह सकेंगे। चारों ओर एकदम भगदड़ मच जायगी।

इसी तरह कल्पना करें कि आप प्रभु-सेवा के भेद को समझने के लिए शान्ति से वीतराग वाणी का श्रवण कर रहे हैं और उस समय सर-सर सरकता हुआ और आपकी ओर ही बढ़ता हुआ काला सर्प दिखाई दे जाय तो क्या आप प्रभु सेवा के रहस्य को जानने में अपने मन को तल्लीन रखकर वहीं पर बैठे रह सकेंगे ? व्याख्यान कितना ही महत्त्वपूर्ण चल रहा हो, लेकिन उसे छोड़कर सुरक्षित स्थान की ओर सभी भागे जाने लगेंगे।

देखिये, साधारण सी बात है—व्याख्यान श्रवण करना क्या सर्प के भय को शान्त कर सकता है ? मौके पर असली सर्प न भी हो और कहीं उस आकार का रस्सी का टुकड़ा ही दिख पड़े—तब भी भय व्याप्त हो जायगा। आप सोचिये, इस प्रकार के भय की वृद्धि मस्तिष्क में होने लगे तो क्या आप व्याख्यान श्रवण कर पायेंगे ? क्या दुकान का नामा-लेखा कर सकेंगे ? और क्या सामान्य कार्य भी शान्ति से करने की क्षमता रहेगी ? साधारण कार्य करना हो तब भी भय वृत्ति को दूर करनी होगी फिर प्रभु की सेवा तो वहाँ बन ही कैसे सकती है—जहाँ मन और मस्तिष्क में भय व्याप्त हो रहा हो।

इस भय वृत्ति को दूर हटानी है तो समझना होगा कि परमात्मा की सेवा करने के लिये क्या-क्या निषेध रखने होंगे ? प्रभु सेवा के लिये मन की भीतरी तहों में जहाँ-तहाँ भी भय बैठा हुआ है, उसे स्वच्छ चिन्तन एवं निर्भयता के निर्माण के बल पर वहाँ से बाहर निकाला जाय। वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से जहाँ भय का चिन्तन है वह चिन्तन इतना खतरनाक नहीं है किन्तु भय की वृत्ति का स्वभाव में ढल जाना और उससे बार-बार प्रकम्पित होते रहना मन की स्थिति को डावाँडोल बना देता है। इससे सेवा में जुटने की स्थिरता ही पैदा नहीं होगी।

साधक अपने अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिये किसी भी स्थान पर बैठता है, चाहे वह स्थान कितना ही भय रहित हो, फिर भी कई बार उसका मन साधना में नहीं लगता है। इसके कारणों पर यदि गहरी नजर डाली जायगी तो पता चलेगा कि उसके दिल पर किसी न किसी प्रकार का भय छाया रहता है। बड़े-बड़े भयों का [illegible] आता है—राजभय, परलोक-भय आदि और इन भयों से [illegible] अथवा [illegible] मस्तिष्क में छाये रहते हैं जो साधना के [illegible] [illegible] छिपे [illegible] रहते हैं।

साधना मे बैठे-बैठे भी चिन्ता चलती रहती है कि अमुक व्यक्ति का कुछ देना है, उससे इज्जत कैसे बचेगी ? अमुक बाल-बच्चे का सम्बन्ध जोडना है, वह नही जुडा तो समाज मुझे क्या समझेगा ? अमुक जिम्मेदारी ले रखी है, उसका निर्वाह कैसे होगा ? निर्वाह नही हुआ तो कितनी अपकीर्ति होगी ? इस प्रकार की कल्पनाएँ मस्तिष्क मे उठती रहती है । इन कल्पनाओ से इहलोक का सम्बन्ध है और इस लोक का भय जब अन्दर की चिन्तन धाराओ मे चलता रहता है तब वह साधना मे स्थिर चित्ती कैसे बन सकता है और कैसे उससे प्रभु की सेवा भी बन सकती है ?

भय का बीज कर्म-पु ज में

ऐसी भय-वृत्ति का बीज कर्म पु ज की जडो मे रहा हुआ होता है। कारण कि वैसी अवस्था मे उसे अपने आत्मिक स्वरूप का पूरा भान नही हो पाता है । यदि वह आत्मा के स्वरूप को सच्चे अर्थो मे समझ लेता है और मिथ्यात्व-मोह ग्र थि का भेदन कर लेता है और वस्तुत: भेदन करके वह अपने आप मे निखालिस स्थिति से चिन्तन करता है, तो फिर इस प्रकार के भयो की चिन्ता सदैव के लिये समाप्त हो जाती है । तब वह जिस क्षेत्र मे जायगा, वहाँ मस्ती से कार्य करते हुए चल सकता है । जब तक भय की जड—मिथ्यात्व मोह की गाठ अज्ञात रूप से मस्तिष्क मे लगी रहती है, तब तक आत्मा के सही स्वरूप को अभिव्यक्त होने मे वह गाठ बाधक बनी रहती है । इस तरह मनुष्य के सामने न सिर्फ इहलोक के भय ही होते हैं, बल्कि परलोक के भय भी उसे सताते रहते हैं ।

सभी प्रकार के इन भयो से निवृत्ति के लिये ज्ञानी जनो का कथन है कि समतामय जीवन-दर्शन को अपना कर जो अपने विचार और आचार को सन्तुलित तथा समरस बना लेता है, वह अपने कर्म-पु ज का क्षय करते हुए परलोक-भय से भी मुक्त बनता है तथा इहलोक के भयो के प्रति भी उसकी सुदृढ अभय वृत्ति बन जाती है। इसलिये जीवन की परिभाषा को समता के पदो मे ढालने और सजाने-सँवारने की आवश्यकता है । इसी समता दर्शन के प्रथम अग रूप मैंने अहिंसा को बनाया है ।

अहिंसा और अभय वृत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । हिंसा का मूल भय मे है । भयाक्रान्त पुरुष ही हिंसा पर उतारू होता है और ज्यो-ज्यो उसका भय कम होता है, उसकी गति अहिंसा की ओर अग्रसर होती है तथा इसी प्रकार ज्यो-ज्यो वह अहिंसा को तन-मन मे अपनाने लगता है त्यो-त्यो वह अधिकाधिक निर्भय भी बनता जाता है । एक अहिंसक पाशविक शक्ति से लैस एक पूरी सेना के समक्ष भी अमित आत्म-विश्वास के साथ खडा रह सकता है । वह न सिर्फ स्वय निर्भय बनता है बल्कि अपने आस-पास के समग्र वातावरण मे भी निर्भयता की भावना भर देता है ।

अहिंसा की अभय-शक्ति

आत्मा अभय ले और अभय दे—इस योग्य उसे अहिंसा ही बनाती है। ग्रन्थकारों ने अहिंसा को उसके गुण-परिणाम की दृष्टि से अनेकानेक नामों से सम्बोधित किया जिसका कुछ विवरण पहले दिया गया है और उसके कुछ नामों का विश्लेषण मैं यहाँ कर रहा हूँ।

अहिंसा को एक नाम दिया गया है—प्रमोद। 'ह्लाद्यात्लाद गत्वा' याने हर्ष को उत्पन्न करने वाली अहिंसा होती है, इस कारण वह प्रमोद है। जहाँ हृदय में प्रमोद का अनुभाव है, वहाँ भय का अस्तित्व नहीं माना जा सकता है। अहिंसा को विभूति भी कहा गया है अर्थात् सर्व वैभव। वैभव का कारण होने से वह विभूति है, चाहे वह इहलोक सम्बन्धी वैभव हो, परलोक सम्बन्धी अथवा मुख्यतः आत्मिक शक्ति-स्वरूप वैभव हो या मोक्ष के दिव्य स्वरूप रूप वैभव। ये सभी वैभव अहिंसा की सतत आराधना से प्राप्त हो सकते हैं।

भय से सम्पूर्णतः मुक्त होकर अभय बनना है तो शास्त्रकार कहते हैं कि तू अहिंसा के आचरण में निरत हो जा। इसलिये अहिंसा का एक नाम रक्षा भी बताया गया है। एक अहिंसक राग-द्वेष से स्वयं को सुरक्षित रखता है तथा दूसरों की रक्षा भी करता है। स्वयं की रक्षा करने में समर्थ ही दूसरों की भी रक्षा कर सकता है। भयभीत न स्वयं की रक्षा कर सकता है, न दूसरों की। अहिंसा रक्षा है—इसका श्रेष्ठ दृष्टान्त हमारे यहाँ राजा मेघरथ का आता है, जिन्होंने अपनी अभय आत्मानुभूति से भय से त्रस्त कबूतर को अभय बना दिया और उसके लिये वे सर्वोच्च बलिदान के लिये भी उद्यत हो गये। आप यह कथा जानते हैं कि बाज से पीछा किया जाता हुआ कबूतर जब मेघरथ राजा की गोद में आ गिरा तो उन्होंने उसकी पीठ पर हाथ फिरा कर भय से पारे उसे निर्भय बनाया। जब बाज ने आकर अपना भक्ष्य मांगा तो वे कबूतर के बदले अपने शरीर का मांस काट कर खाने के लिये देने लगे। उन्होंने बाज को समझाया कि विश्व में सभी प्राणियों को जीने का समान अधिकार है और किसी को भी किसी के प्राणों का हरण करने का अधिकार नहीं है, फिर भी यदि किसी का जीवन लेने की ही इच्छा है तो मैं अहिंसक 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त की अपना जीवन देकर भी रक्षा करूँ। यह था मेघरथ की परीक्षा लेने को देवमाया थी किन्तु राजा के इस उत्कृष्ट बलिदान से उनकी आत्मा में तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्ध हुआ और वही आत्मा बाद के भव में भगवान् शान्तिनाथ के रूप में अवतरित हुई। आत्मा के अभय स्वरूप को प्रकट कर के अहिंसा की रक्षा-भावना उत्पन्न होती है, यही उत्कृष्ट आत्म-शक्ति की प्रतीक बनती है।

जो अभय तो धर्म की जय

जहाँ अहिंसा है, वहाँ अभय है। जहाँ अभय है, वहाँ समता जीवन है, और समता जीवन ही धर्म का प्रभावशाली अस्तित्व है। धर्म है, वही आत्मशक्ति का प्रमाण है और वही प्रभु की सच्ची सेवा है। जहाँ यह सब कुछ है, वहाँ जय ही जय है। इसीलिये कहा है—यतः धर्मः तत जयः। प्रभु सेवा की पृष्ठभूमि के प्रथम प्रकार को ही जो समझ कर अपने जीवन मे उतार लेता है, उसके मारे भय समाप्त हो जाते है। जब भय नही रहते तो वहाँ शक्ति का रूप ही तो प्रकट होता है और यह शक्ति वाहरी नश्वर शक्ति नही, शाश्वत आन्तरिक शक्ति होती है।

आन्तरिक शक्ति से सम्पन्न ऐसा पुरुप कैसा भी संकट उसके सामने आए—उसमे वह अपनी रक्षा करने मे समर्थ होता है। वह सकट चाहे इहलोक मे झूठे लाछन लग कर पड्यंत्रभरा ही क्यो न हो-उसका मन भय या चिन्तायुक्त नही बनता। आप कथा भाग मे श्रीकेतु राजा की वासना-लालसा और सेठ विनयधर के उज्जवल चरित्र एव परम निर्भय मन का वर्णन सुन रहे हैं।

श्रीकेतु राजा ने विनयधर सेठ की सुन्दर सेठानियो को अपने भोग का साधन वनाने की वुरी नीयत से जो षड्यत्र रचा और सेठ पर चरित्रहीनता का झूठा लाछन लगाने की सामग्री तैयार कराई—उसके लिये उसने प्रमुख नागरिको की वैठक मे साम, दाम, दड, भेद से सवको अपने पक्ष मे करने की चेष्टा की तथा वाद मे जनता का प्रतिनिधि मडल जव राजा के पास पहुँचा और उसने विनयधर जैसे चरित्रशील पुरुप के प्रति अन्याय न करने का निवेदन किया तव भी राजा ने सेठ और उनकी चारो सेठानियो को पकड कर मँगाने तथा उनकी हवेली पर सील लगाने के अपने आदेश का ही समर्थन किया। उसने उस पत्र के आधार पर सेठ की चरित्रहीनता को प्रत्यक्ष वताया।

विधि की विडम्वना देखिये कि जो स्वय चरित्रहीन है, वह एक चरित्रशील को चरित्रहीन प्रमाणित करने पर तुला हुआ है, क्योकि उसकी अन्तरेच्छा पतित वनी हुई है। श्रीकेतु की इस छद्म कार्यवाही को भयाधारित मानना चाहिये, क्योकि उसे अपनी ही कामुक वृत्ति का भय वुरी तरह सता रहा था। श्रीकेतु ने सज्जनता का ढोंग करते हुए उन जन-प्रतिनिधियो को समझाया कि वह तो इस वढते हुए पाप पर अकुश लगाना चाहता है और परस्त्रीगामी व लम्पट सेठ को दड देना चाहता है, उसमे उन्हे वाधा नही डालनी चाहिये। सारी जनता को भी यही वात समझाने का उसने उनसे आग्रह किया। उसने धमकी भी दी कि इसके वावजूद भी जो विनयधर सेठ का पक्ष लेगा, उसे भी कठोरतापूर्वक दण्डित किया जायगा। इस धमकी से जन-समूह मे भय फैल गया और लोग पीछे हटने लगे।

विनयधर अहिंसक थे, अभय थे

श्रीसेनु राजा के इस कठोर रुख से सारे नगर में हो-हल्ला मच गया और जो विनयधर सेठ के प्रशंसक थे, उन्होंने भी सेठ से जाकर कहा कि राजा सत्ता-मद में मदमाता होकर अन्याय पर उतारू है। किन्तु उसके विरुद्ध वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते। विनयधर ने यह सुनकर सोचना शुरू किया कि वे इस झूठे लांछन और प्रत्यक्ष अन्याय का प्रतिकार कैसे करें? भय का मामूली अंश भी उनके विचार में नहीं था—निर्भय मन से वे इस विषय पर सोचने लगे। इसी बीच राजा ने दूसरी सुभट-टोली सेठ और सेठानियों को जल्दी पकड़ लाने तथा उनकी हवेली पर कब्जा करने के लिये भेज दी।

दूसरी सुभट टोली बड़े जोश से सेठ की हवेली पर पहुँची तथा सेठ व सेठानियों को हथकड़ियों व बेड़ियों में जकड़कर ले जाने लगी। तब सेठजी ने निर्भयतापूर्वक कहा कि ये बेड़ियाँ तो भागने वालों के लिये हैं, हम सब तो सहर्ष साथ चल रहे हैं अतः इन्हें लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने इस बात की चेतावनी भी दे दी कि कोई सुभट किसी प्रकार से उनकी पत्नियों से स्पर्श न करे। उनके निर्भय और मधुर स्वर का वांछित प्रभाव सुभटों पर हुआ और उन्होंने सेठ जी का कहना मान लिया।

सेठ विनयधर ने तब अपनी पत्नियों से कहा कि ऐसे प्रसंग पर भी जीवन से हताश नहीं होना चाहिये, पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिये तथा सब कुछ न्यौछावर करके भी शील को बचाना चाहिये। यह सुनकर चारों सेठानियों ने अपनी दृढ़ता प्रकट की और उनके निर्देशन में चलने का कहा। सुभट टोलियाँ इन पाँचों स्त्री-पुरुषों की अभय वृत्ति को देखकर सब क्षुब्ध सी होने लगीं और अपनी ओर से उन्होंने कोई अभद्रतापूर्ण कार्यवाही नहीं की।

सुभट आगे-आगे चल रहे हैं और पाँचों सेठ-सेठानियाँ निर्भयता से राजभवन की ओर जा रहे हैं। नगर में चारों ओर चिन्ता और निराशा व्याप्त है कि अब न जाने राजा इनके साथ कैसा व्यवहार करेगा? दरबार में पहुँचकर पाँचों को राजा के सामने खड़ा किया जाता है। श्रीसेनु सेठ पर दृष्टि न डालकर पहले चारों सेठानियों पर अपनी नजर डालता है और पाता है कि वे सौन्दर्य में अतीव सुन्दर हैं। यह प्रकट होता है कि अब वह उनकी लिप्सा में आ गया है।

अभय अमर हो जाता है !

[illegible]

परिणामों का परिणमन

"भय चंचलता हो जे परिणाम नी रे ·····"

मंगलाचरण के प्रसंग से भगवान् श्री संभवनाथ की प्रार्थना उच्चरित की जा रही है, अतः इन पंक्तियों में जो अर्थ का स्वरूप रहा हुआ है, उस स्वरूप को भलीभांति समझना तथा तदनन्तर उस अर्थ को अपने व्यावहारिक जीवन के साथ लागू करके चलना ही मुख्यतः इस प्रार्थना के उच्चारण का प्रयोजन है। प्रभु की सेवा का भेद समझाते हुए कवि ने प्रथम भूमिका के प्रथम चरण के विषय में अभयवृत्ति का उल्लेख किया जिसमें भय की स्थिति के निवारण का संकेत दिया गया है। इस दृष्टि से यह समझना आवश्यक है कि यह भय क्या भरता है और फैलता है तथा चित्त को चंचल बनाये रखता है?

मनुष्य जहाँ बड़े बड़े भयों से परिचित होता है, वह वास्तव में उस भय से परिचित नहीं है जो उसकी आन्तरिक शक्ति को दबाकर छिपा हुआ रहता है। ज्ञानीजन उस भय का संकेत देते हैं कि भय परिणामों की चंचलता से जन्म लेता है। परिणाम का आशय इस प्रार्थना में आत्मा के स्वभाव-अनुभाव से लिया गया है। इसी प्रकार स्वभाव-अनुभाव से जो भाव या विचार प्रस्फुटित होते हैं, उन्हें ही परिणाम [illegible] दी गई है।

इन परिणामों-विचारों में किसी भी प्रकार की भय की स्थिति तथा [illegible] प्रवेश करती है, उसके प्रत्युत्तर करने का रास्ता भी इस प्रार्थना की पंक्तियों में बताया गया है। परिणाम का आत्मा का बनना [illegible] है। वैसे 'परिणाम' शब्द के कई अर्थ किये जाते हैं। परिणाम का अर्थ भावना होता है तो उसका अर्थ [illegible] किया जाता है। इसके अलावा वस्तु के अन्दर परिणमनशीलता का जो [illegible]—एक रूप से दूसरे रूप में परिणत होने की जो प्रक्रिया है, उसे भी परिणाम के सम्बोधन से ही पुकारा जाता है। यह परिणमनशीलता का स्वभाव तो जड़-तत्त्वों में भी पाया जाता है लेकिन यहाँ जड़-तत्त्व का विश्लेषण नहीं कर रहे हैं। यहाँ तो परिणाम के स्वरूप के स्पष्टीकरण का संकेत है।

परिणामों की धारा

जितनी भी आत्माएँ इस विश्व के अन्दर रंगमच पर विद्यमान है, उन सभी आत्माओ मे परिणामो की धारा वहती रहती है। किसी मे तीव्र गति से परिणामो का वेग बढता है तो किसी मे मन्द गति से परिणामो की धारा चलती है। यह वेग विविध रूपो मे परिणत होता रहता है। इस धारा मे न्यूनाधिकता भी आती रहती है जो कर्मों के क्षयोपशम के साथ सम्वन्धित रहती है।

ससार के प्रत्येक प्राणी मे परिणामो का अस्तित्व पाया जाता है। यहाँ तक कि एकेन्द्रिय जीवो मे भी परिणामो का परिणमन होता रहता है। यह दूसरी वात है कि वह परिणामो को मनुष्य के समान वाहर प्रकट नही कर सकता है। मनुष्य के मन मे परिणामो के परिणमन का जो उग्र रूप देखने को मिलता है, वह पशु योनि मे नही दीखता। जव कभी परिणामो के स्वर वाहर अभिव्यक्त होते है तो आत्मा के अन्दर की भावनाओ की उर्मियाँ भी तरगित होने लगती हैं। ये ही उर्मियाँ जैसे कहती हैं कि मेरे परिणाम ऐसे नही थे—मेरे भाव ऐमे नही थे। उन विचारो को ही परिणाम की सज्ञा देकर चलते हैं और वे ही विचार मनुष्य की विभिन्नता का स्वर व्यक्त करते हैं।

धारा मे अन्य निमित्तों का संयोग

परिणामो की उस धारा के साथ दूसरे निमित्तो का भी सयोग होता है। तव उस धारा का मोड दो तरह से होता है—परिणामस्वरूप और अपरिणामस्वरूप। दूसरो के निमित्त से जहाँ परणामो मे तब्दिली आती है—परिणाम तव बिगडते हैं अथवा सुधरते है तो वह विभाव-धर्म कहलाता है और जहाँ दूसरो का कोई निमित्त नही मिलता एव आत्मा के साथ सलग्न कर्मों का जव उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है या तीनो अवस्थाओ मे से कोई भी एक अवस्था बनती है, उस समय भी आत्मा के परिणामो की अभिव्यक्ति होती है।

जव मोह कर्म का तथा मोह कर्म मे भी दर्शन मोहकर्म का क्षयोपशम होता है तो उस वक्त आत्मा का परिणाम क्षयोपशम के रूप मे प्रकट होता है और मिथ्यात्व की सातो प्रकृतियो का उपशम हो जाता है। उसके बाद उपशम आत्मा के परिणाम वनने पर उन सातो प्रकृतियो का सर्वथा क्षय भी हो जाता है। तब क्षायिक भाव के परिणाम व्यक्त होते है। उन परिणामो की तारतम्यता अधिकाश मात्रा मे चलती रहती है। जब ये तीन अवस्थाएँ नही आती है तो परिणामो मे मलिन अवस्था रहती है। उसी मलिन अवस्था के कारण आत्मा और परमात्मा के सही स्वरूपो का सम्यक् ज्ञान नही हो पाता है। इस अवस्था मे हिताहित का विवेक नही होता है तो इसका भी भान पैदा नही होता कि मुझे क्या करना चाहिए, मैं क्या करने के लिये आया हूँ या इस मानव-जीवन का श्रेष्ठ प्रयोजन क्या है?

अशुद्ध निमित्त का संयोग जब परिणामों की धारा के साथ बनता है तो उससे परिणामों में भी अशुद्धता उत्पन्न हो जाती है। तब ऐसे व्यक्ति को कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का भान या विवेक नहीं होता है। अशुद्ध निमित्त के सम्पर्क में मनुष्य के परिणाम बिगड़ जाते हैं और शुद्ध निमित्त के प्रसंग में उन परिणामों में सुधार भी आता है। 'पर' के निमित्त से परिणामों में जो विकृति आई अथवा परिणामों में जो सुधारक परिवर्तन हुआ, वह विभावक परिणाम की संज्ञा पाता है।

विभाव के इस दृष्टि से दो भेद किये जा सकते हैं—एक शुद्ध विभाव और दूसरा अशुद्ध विभाव। शुद्ध विभाव के परिणाम उत्कृष्ट आत्माओं के निमित्त से बनते हैं। अगर कोई त्यागी पुरुष के सम्पर्क में आता है तो उससे आत्मा में शुद्ध परिणामों की भावना बनती है। पर का निमित्त तो मिला, किन्तु शुद्ध मिला, जिससे उसके परिणामों में शुद्धता आई और वह अपने जीवन विकास की तरफ आगे बढ़ने लगा तो जो विभाव की परिभाषा विद्वान् करते हैं उसमें परिवर्तन आता है। यह विभाव परिणाम जरूर कहलाता है किन्तु वह शुद्ध है और उस शुद्धता से मनुष्य का उद्धार सम्भव बनता है—यहाँ तक कि वह मोक्ष की भी प्राप्ति कर लेता है।

शुद्ध निमित्त से मोक्ष तक की प्राप्ति

परिणामों की धारा में 'पर' का निमित्त मिले—वह विभाव कहलाता है किन्तु यह विभाव भी जब शुद्ध निमित्त के संयोग से उत्पन्न होता है तो वह विभाव होकर भी आत्मस्वभाव को प्रबुद्ध बनाता है। यही प्रबोध जब प्रबल बन जाता है तो उस संयोग से आत्मा अपनी उच्चतम उन्नति तक सिद्ध करने में सफल बन जाती है।

अर्जुन माली की कथा इसका स्पष्ट उदाहरण है। अर्जुन माली के मन में [illegible] परिणाम [illegible] था। वह जाति से माली था और उस जाति में शिक्षा के [illegible] का प्रसंग नहीं था। [illegible] की दृष्टि से वह एक साधारण परिणाम को लेकर चल रहा था। लेकिन उसी अर्जुन माली के साथ उसकी पत्नि का सहयोग और पत्नि के निमित्त से छः दुष्ट व्यक्तियों का निमित्त मिला। अर्जुन माली के सामने जब उन छः दुराचारी व्यक्तियों के [illegible] परिणामों का ताण्डव नृत्य उपस्थित हुआ तो उसके साधारण परिणाम इस निमित्त से अत्यन्त अशुद्ध परिणामों में परि-णत हो गए। परिणाम [illegible] जो अर्जुन माली भद्रिक स्वभाव का पुरुष था, वह [illegible] बन गया और [illegible] प्रतिशोधस्वरूप वह प्रतिदिन छः पुरुषों व एक महिला की हत्या करने लगा। उसके परिणामों की ऐसी अशुद्धता [illegible] रही। इससे जो परिवर्तन उपस्थित हुआ, उसका विभावक भाव [illegible]।

किन्तु इसी निमित्त का दूसरा पक्ष भी इसी अर्जुन माली के जीवन में [illegible] है। प्रतिदिन हत्याओं में लिप्त अर्जुन माली को शुद्ध परिणाम [illegible]

परिणामो की धारा

जितनी भी आत्माएँ इस विश्व के अन्दर रगमच पर विद्यमान हैं, उन सभी आत्माओ मे परिणामो की धारा वहती रहती है। किसी मे तीव्र गति से परिणामो का वेग बढता है तो किसी मे मन्द गति से परिणामो की धारा चलती है। यह वेग विविध रूपो मे परिणत होता रहता है। इस धारा मे न्यूनाधिकता भी आती रहती है जो कर्मों के क्षयोपशम के साथ सम्वन्धित रहती है।

ससार के प्रत्येक प्राणी मे परिणामो का अस्तित्व पाया जाता है। यहाँ तक कि एकेन्द्रिय जीवो मे भी परिणामो का परिणमन होता रहता है। यह दूसरी वात है कि वह परिणामो को मनुष्य के समान वाहर प्रकट नही कर सकता है। मनुष्य के मन मे परिणामो के परिणमन का जो उग्र रूप देखने को मिलता है, वह पशु योनि मे नही दीखता। जब कभी परिणामो के स्वर वाहर अभिव्यक्त होते हैं तो आत्मा के अन्दर की भावनाओ की उर्मियाँ भी तरगित होने लगती है। ये ही उर्मियाँ जैसे कहती है कि मेरे परिणाम ऐसे नही थे—मेरे भाव ऐसे नही थे। उन विचारो को ही परिणाम की सज्ञा देकर चलते हैं और वे ही विचार मनुष्य की विभिन्नता का स्वर व्यक्त करते हैं।

धारा मे अन्य निमित्तों का संयोग

परिणामो की उस धारा के साथ दूसरे निमित्तो का भी संयोग होता है। तव उस धारा का मोड दो तरह से होता है—परिणामस्वरूप और अपरिणामस्वरूप। दूसरो के निमित्त से जहाँ परणामो मे तब्दिली आती है—परिणाम तव बिगडते हैं अथवा सुधरते है तो वह विभाव-धर्म कहलाता है और जहाँ दूसरो का कोई निमित्त नही मिलता एव आत्मा के साथ सलग्न कर्मों का जव उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है या तीनो अवस्थाओ मे से कोई भी एक अवस्था बनती है, उस समय भी आत्मा के परिणामो की अभिव्यक्ति होती है।

जव मोह कर्म का तथा मोह कर्म मे भी दर्शन मोहकर्म का क्षयोपशम होता है तो उस वक्त आत्मा का परिणाम क्षयोपशम के रूप मे प्रकट होना है और मिथ्यात्व की सातो प्रकृतियो का उपशम हो जाता है। उसके बाद उपशम आत्मा के परिणाम वनने पर उन सातो प्रकृतियो का सर्वथा क्षय भी हो जाता है। तब क्षायिक भाव के परिणाम व्यक्त होते है। उन परिणामो की तारतम्यता अधिकाश मात्रा मे चलती रहती है। जब ये तीन अवस्थाएँ नही आती हैं तो परिणामो मे मलिन अवस्था रहती है। उसी मलिन अवस्था के कारण आत्मा और परमात्मा के सही स्वरूपो का सम्यक् ज्ञान नही हो पाता है। इस अवस्था मे हिताहित का विवेक नही होता है तो इसका भी भान पैदा नही होता कि मुझे क्या करना चाहिए, मैं क्या करने के लिये आया हूँ या इस मानव-जीवन का श्रेष्ठ प्रयोजन क्या है?

अशुद्ध निमित्तों का सयोग जब परिणामो की धारा के साथ बनता है तो उसके परिणामो मे भी अशुद्धता उत्पन्न हो जाती है। तब ऐसे व्यक्ति को कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का भान या विवेक नही होता है। अशुद्ध निमित्त के सम्पर्क से मनुष्य के परिणाम विकृत होते है और शुद्ध निमित्त के प्रसग से उन परिणामो मे सुधार भी आता है। 'पर' के निमित्त से परिणामो मे जो विकृति आई अथवा परिणामो मे जो सुधारक परिवर्तन हुआ, वह विभावक परिणाम की सज्ञा पाता है।

विभाव के इस दृष्टि से दो भेद किये जा सकते हैं—एक शुद्ध विभाव और दूसरा अशुद्ध विभाव। शुद्ध विभाव के परिणाम उत्कृष्ट आत्माओ के निमित्त से बनते है। अगर कोई त्यागी पुरुष के सम्पर्क मे आता है तो उससे आत्मा मे शुद्ध परिणामो की भावना बनती है। पर का निमित्त तो मिला, किन्तु शुद्ध मिला, जिससे उसके परिणामो मे शुद्धता आई और वह अपने जीवन विकास की तरफ आगे बढने लगा तो जो विभाव की परिभाषा विद्वान् करते हैं उसमे परिवर्तन आता है। यह विभाव परिणाम जरूर कहलाता है किन्तु वह शुद्ध है और उस शुद्धता मे मनुष्य का उद्धार सम्भव बनता है—यहाँ तक कि वह मोक्ष की भी प्राप्ति कर लेता है।

शुद्ध निमित्त से मोक्ष तक की प्राप्ति

परिणामो की धारा मे 'पर' का निमित्त मिले—वह विभाव कहलाता है किन्तु यह विभाव भी जब शुद्ध निमित्तो के सयोग से उत्पन्न होता है तो वह विभाव होकर भी आत्म स्वभाव को प्रबुद्ध बनाता है। यही प्रबोध जब प्रबल बन जाता है तो उस प्रभाव से आत्मा अपनी उच्चतम उन्नति तक सिद्ध करने मे सफल बन जाती है।

अर्जुन माली की कथा इसका स्पष्ट उदाहरण है। अर्जुन माली के मन मे अशुद्ध परिणाम चल रहा था। वह जाति से माली था और उस जाति मे शिक्षा के विशेष का प्रसग नही था। आजीविका की दृष्टि से वह एक साधारण परिणाम को लेकर चल रहा था। लेकिन उसी अर्जुन माली के साथ उसकी पत्नि का सहयोग और पत्नि के निमित्त से छ दुष्ट व्यक्तियो का निमित्त मिला। अर्जुन माली के सामने जब उन छ दुराचारी व्यक्तियो के मलिन परिणामो का ताडव नृत्य उपस्थित हुआ तो उसके साधारण परिणाम इस निमित्त से अत्यन्त अशुद्ध परिणामो मे परि-वर्तित हो गये। परिणामत जो अर्जुन माली भद्रिक स्वभाव का पुरुष था, वह क्रूर स्वभाव का बन गया और इतना क्रूर कि प्रतिशोधस्वरूप वह प्रतिदिन छ. पुरुषो व एक महिला की घात करने लगा। उसके परिणामो की ऐसी अशुद्धता दूसरो के निमित्त से बनी। उसमे जो परिवर्तन उपस्थित हुआ, उसका विभाविक भाव अशुद्ध था।

किन्तु इसी निमित्त का दूसरा पक्ष भी उसी अर्जुन माली के जीवन मे उत्पन्न होता है। प्रतिदिन हत्याओ मे निरत अर्जुन माली को शुद्ध परिणामो वाले सेठ

सुदर्शन का जब निमित्त मिलता है तो वह उसका अशुद्ध परिवर्तन तब पूर्ण शुद्धता मे परिणत हो जाता है। शुद्ध परिणामो की धारा मे बहने वाला सेठ सुदर्शन प्रभु के दर्शनो के लिये जा रहा था, तब मार्ग मे अर्जुन माली का निमित्त मिल गया। फलस्वरूप वह क्रूर व्यक्ति पूर्णरूप से अहिंसक बन गया। फिर अर्जुन माली भी शुद्ध परिणामो की धारा के साथ महावीर प्रभु के चरणो मे पहुँचा और उन दिव्य महापुरुष का निमित्त पाकर उन्नति की ऊँची सोपानो पर वह चढता ही चला गया। उसकी उन्नति इतनी अद्वितीय रही कि वह उसी भव के अन्दर स्वय की जीवन साधना को आगे बढाता हुआ महावीर प्रभु से भी पहले मोक्षगामी बन गया।

यह दूसरो के शुद्ध निमित्त से आत्मा के परिणाम का उन्नति प्रदायक दृश्य बना कि उसे मोक्ष तक की प्राप्ति हो गई। एक ही व्यक्ति के साथ इस प्रकार दो तरह के दो निमित्त मिले और दोनो निमित्तो से दोनो प्रकार की अशुद्ध एव शुद्ध धाराओ का परिणमन हुआ। यह परिणमन विभाव और स्वभाव के परिणाम की स्थिति के साथ जब विशिष्ट व्याख्या का प्रसग बनता है तो वहाँ अलग बुद्ध और प्रबुद्ध की स्थिति भी बनती है।

परिणामों के इस स्वरूप को अपने अन्दर देखें !

गहराई से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि परिणामो का यह स्वरूप प्रत्येक प्राणी के पास है और इस तरह आपके पास भी है। आप अपने परिणामो को व्यवस्थित रूप मे सचालित करे और उन्हे भाव शुद्धि की तरफ आगे बढाएँ। स्वय के परिणामो मे अच्छे निमित्त से जो परिवर्तन आता है, उसे लाने के लिये सदैव जागृत रहे। इसके साथ ही बुरे निमित्तो से इस प्रकार सावधानीपूर्वक बचते रहे कि अशुद्ध पयिणामो का सयोग पैदा न हो।

परिणामो के इस नैमैत्तिक सयोग को आप पहले समझें और फिर विवेकपूर्वक उस स्वरूप को—द्वन्द्व को अपने भीतर देखें, परखें और महसूस करें। इस दृष्टि से सतर्कता की स्थिति आपके अन्दर उत्पन्न होगी। सोचिये कि आप एक धर्मस्थान के भीतर पहुँचे तब धर्मस्थान के अनुरूप आपके परिणामो मे परिवर्तन आया। धर्मस्थान के लिये अपने स्थान से आप चलने को हुए होगे तभी उक्त परिवर्तन का आभास आपको होने लगा होगा। किन्तु कल्पना करें कि हवेली से बाहर निकलते ही आपको टपाल (डाक) मिलने का सयोग बैठ गया और उसमे व्यापार सम्बन्धी कोई आकस्मिक समाचार थे, तब उस समय आपके परिणाम की धारा फिर बदली और वह व्यापार के रूप मे परिणत हुई। उसको गौण करके आप फिर भी धर्मस्थान मे पहुँच गये और वहाँ सन्तो का निमित्त पाकर उन परिणामो मे फिर अन्तर आया। यहाँ भी परिणाम वीतराग वाणी तथा कथा-भाग सुनने के साथ उतार-चढाव पर चलते रहते

[illegible] परिभाषा [illegible] प्रत्येक प्राणी के मन में [illegible] और [illegible] है।

[illegible]

[illegible] है—

[illegible]

[illegible]

परिभाषाओं का परिष्करण और [illegible]

[illegible]

भयभीत स्थिति मे परिणामो का परिणमन इतनी शीघ्रता से होता रहता है कि उनसे किसी भी एक निश्चय को समझ पाना कठिन होता है, वल्कि यो कहे कि एक निश्चय उस चचलता मे वन ही नही सकता है। इन्ही परिणामो की चचलता से इन्सान महत्वपूर्ण जीवन को अपने हाथ से व्यर्थ मे जाने देता है। इस चचलता रूपी भय को यदि इन्सान की आत्मा ठीक तरह से समझने का प्रयास करे तो वह अपने परिणाम मे स्थिरता लाकर सुदृढ जीवन का निर्माण कर सकता है। हर क्षेत्र मे परिणामो की स्थिरता से ही वह कामयाबी हासिल कर सकता है।

एक तरह से सूक्ष्म परिणामो का परिणाम ही यह मानव देह है। अगर सूक्ष्म परिणाम शुभ नही वनते तो यह शुभ मानव देह कहाँ से प्राप्त होती ? जिस आत्मा के अशुभ परिणाम रहते है, उसके अशुभ कर्म बँधते है, जिसके फलस्वरूप अशुभ शरीर की प्राप्ति होती है। शुभ कर्म उपार्जन से ही मानव देह, उत्तम कुल, पाँचो इन्द्रियो की व्यवस्थित रूपरेखा आदि श्रेष्ठ साधनो की उपलब्धि मिलती है। अपने परिणामो की स्थिरता का यह परिणाम जो प्रत्यक्ष मे दिखाई देता है, उन्ही परिणामो को यदि आप वर्तमान मे स्थिर एवं व्यवस्थित वना डाले तो शुभ निमित्त जन्य स्थिरता के प्रभाव से परिणामो मे सस्कारो का जो भय समाया हुआ है, वह निकल जायगा। इस भय की समाप्ति के साथ ही प्रभु सभवनाथ की सेवा भी सरल वन जायगी।

अहिंसा के परिणाम की विशालता

शास्त्रो का विवरण है कि ऐसा अभय प्रभु सेवक सिद्धस्वरूप सिद्धो के आवास को अपने जीवन मे प्राप्त करता है। उस सिद्धावास को अहिंसा के परिणाम से लिया है। अहिंसा के परिणाम को सिद्धावास भी कहा है। उसी अहिंसा के परिणाम को आश्रव निवृत्ति भी वताया गया है। आश्रव का अर्थ होता है—पाप के आने के द्वार जो मिथ्यात्व, आवर्त, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग आदि के रूप मे होते है। आश्रव अशुभ परिणामो का प्रकट रूप होता है तो शुभ परिणामो मे जो अहिंसा होती है उसका परिणाम आश्रव के इन द्वारो को रोकने के रूप मे दिखाई देता है। अहिंसा स्वरूप शुभ परिणाम जव आते हैं तो आश्रव के इन द्वारो पर प्रतिवन्ध लग जाते हैं, अशुद्ध वृत्तियाँ रुक जाती है तथा अहिंसा के परिणामो के शुद्धता की पराकाष्ठा तक पहुँचने पर यथाख्यात चारित्र्य की समुज्ज्वलता प्रकट हो जाती है। वह केवल ज्ञान की प्राप्ति तक भी पहुँच सकती है।

यह गम्भीरता से लिये जाने योग्य तथ्य है कि जिस अहिंसा के परिणाम को मनुष्य साधारणतया छोटा और महत्त्वहीन समझता है, उसी परिणाम की तारतम्यता यदि उच्चतम्य कोटि तक पहुँच जाय तो उच्चतम केवल ज्ञान की प्राप्ति भी संभव वन जाती है। इसलिए अहिंसा को सिद्धावास और केवल ज्ञान का स्थान कहा है। ये ही परिणाम जव और आगे परिणमन करते है तो शिव रूप वन जाते हैं।

शिव का अर्थ है—कल्याणकारी और मंगलमय तथा अहिंसा का चरम रूप है शिव। [illegible] है—इस अहिंसा के परिणाम की शिवात्मकता।

मनुष्य मानता है कि अहिंसा का पालन तो शरीर से रहते हुए ही किया जा सकता है, किन्तु अहिंसा का परिणाम जितना आचरण में उतर कर निखरता जाता है, उतना ही वह आत्मा के साथ घनिष्ठ बनता जाता है। इसका अनुरूप अनुभव, [illegible] मधुरता है। वह यही मधुरता आत्मा के स्वभाव-रक्षण की परिणति के रूप में [illegible] होती है। यह अहिंसा का परिणाम इस तरह आत्मा में [illegible] ओतप्रोत होता हुआ शिव अवस्था तक पूर्ण रूप में प्रकट होता है। तब यह परिणाम अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है। जिस प्रकार में जो पूर्ण आत्म-मुक्तता रूप [illegible] परिणाम रूप हुआ है, उसे ही शास्त्रकारों ने 'शिवम्' कहा है। [illegible] 'शिव-मस्तु' कहा है वह [illegible] शिवत्व है। [illegible] अहिंसा का परिणाम [illegible] कि मुक्ति के बाद भी [illegible] है।

शिव और अशिव की स्थिति

पर शिव रूप अहिंसा का परिणाम तभी प्राप्त होता जबकि मानव के परि-णामों [illegible] और [illegible] वह शिव [illegible] अशिव की ओर ही बढ़ता। शिव का अर्थ है— [illegible] परिणाम, जो शिव बनाता [illegible]

[illegible]

से कहा कि यह झूठ है, ऐसा नही हो सकता। मेरा पुत्र तरुण है, वह कभी मर नही सकता। इस दृढता को देखकर उन्होने उस दृढता का कारण पूछा तो धर्मकुमार के पिता ने कहा कि ये सस्कार उसे उसके पूर्वजो से मिले हैं। शुद्ध व शुभ परिणामो की वजह से ही उनके वंश मे कभी तरुण की मृत्यु नही हुई है। मुख्याध्यापक ने फिर सच वात वता दी।

तो यह रूपक वताता है कि जहाँ परिणाम की अचचलता है, वहाँ परिस्थितियाँ भी शुभ और अशुभ वन जाती है। यही 'शिव' स्थिति कहलाती है। इस कारण जीवन का मारा उत्तरदायित्व—उसकी मूल शक्ति परिणामो के सहारे ही जुडी रहती है। अभयवृत्ति जितनी अधिक विकसित होती जायगी, उतनी ही अशिव से शिव की ओर आत्मा की गति भी तीव्र वनती जायगी।

परिणामो की स्थिरता मे विकास को दिशा

उपरोक्त प्रार्थना की पक्तियो मे जो भयपूर्ण परिणामो पर प्रहार है—उनकी चचलता पर प्रहार है, उसे हृदयगम करके आचरण मे उतारने की आवश्यकता है। भय को सर्वथा हटाकर जो अहिंसा के परिणाम की ऊँचाई की ओर जाता है, वह शिव बन जाता है। वैसी आत्मा भयकर परिस्थितियो मे भी प्रसन्न मुद्रा के साथ अपने जीवन को शुभ परिणामो की सुदृढता से चलाती है।

कमलसेन चरित्र मे विनयधर सेठ का प्रसंग चल रहा है, जो परिणामो की स्थिरता को साधने वाला ऐसा ही पुरुष है जिसके जीवन मे अहिंसा का परिणाम परिपक्व स्थिति मे समुन्नत हो रहा था। दरवार मे उपस्थित करने के वाद जब श्रीकेतु राजा चारो सेठानियो की ओर देख रहा है, तब उसके परिणाम अशुद्ध और मलिन थे। मलिन परिणाम की चचलता के साथ ही वह उन्हे देखता है। चचल भावो के झकोरो मे घूमते हुए श्रीकेतु ने वाहर से गम्भीर वनकर आदेश दिया कि अपराध तो सेठ ने किया है—इन सेठानियो का कोई अपराध नही है अत इन्हे अन्तेउर मे सुरक्षा साथ रखा जाय।

इस आदेश से सेठानियाँ समझ जाती हैं कि राजा का आन्तरिक स्वरूप शुभ भावो के साथ जुडा हुआ नही है और उससे हमारे परिणामो की स्थिरता पर आघात लगता है। किन्तु उन्होने निश्चय किया कि वे स्थिर परिणाम के साथ ही आगे बढेगी ताकि उसके द्वारा वे अपने जीवन को सुरक्षित रख सकें। तव उन्होने सलज्ज नेत्रो से अपने पति की ओर देखा और जैसे पूछना चाहा कि इस सकट की घडी मे उन्हे क्या उपाय करना चाहिए? विनयधर भी धीरजवान् और वुद्धिशाली था। उसने शुभ परिणाम के साथ भीतर ही भीतर चिन्तन किया। सेठ ने विचार किया कि राजा सत्ता एवं सैन्य बल के साथ अन्धा हो रहा है, अतः किसी प्रकार की उत्तेजना परिस्थिति को

अधिक प्रसन्न रहा करती । उसे विश्वास था कि उसकी सारी परिस्थितियाँ ऐसी भी परि-स्थितियों में अपने प्रिय परिणाम को छोड़ने वाली नहीं है । इस स्थिति को धीरे-धीरे [illegible] शान्ति और उदार [illegible] का [illegible] सेठानियों को कर दिया ।

सेठानियाँ चमत्कृत गईं और अनुरागों के साथ अन्तःपुर की तरफ बढ़ने लगीं । अन्तःपुर में [illegible] पहुँचीं तो रानियों ने देखा कि उनके चेहरे पर तो विशेष सौम्यता, धर्म की निष्ठा और पवित्र भावना की आभा फैली हुई है । रानियाँ उनके सामने [illegible] की बहुत छोटी मानने लगीं । तभी सेठानियों ने अनुराग से कहा कि आप राजा से [illegible] कहिये कि वे हमारे लिए अलग स्थान नियुक्त करें जहाँ हम अपनी धर्म क्रियायें निर्विघ्न रूप से कर सकें । अनुराग ने ज्यों ही राजा से यह सन्देश कहा तो उसने अपने मंत्री परिणाम के साथ ही तुरन्त स्वतन्त्र स्थान देने की आज्ञा दे दी । उन्हें स्वतन्त्र रूप से एक नवीन भवन में ठहरा दिया गया ।

अब श्रेष्ठियों की पवित्रता और परिणामों की निर्मलता का पता भी सभी को प्रकट होता । किन्तु आप परिणामों की धारा में अपनी जीवन नौका को सम्हालने के प्रति [illegible] ही तत्पर रहें । आप भी यदि शुद्ध परिणामों के साथ भगवान नमिनाथ का [illegible] करेंगे तो कठिन से कठिन परिस्थितियाँ भी आसान हो जायेंगी तथा जीवन विकास की दिशा की ओर अग्रसर हो जायगा ।

[illegible] भवन
[illegible]

-:०:-

❁ रुचि और अरुचि के क्षेत्र

"द्वेष—अरोचक भाव ... ..."

सम्भवनाथ भगवान् की प्रार्थना की पक्तियाँ जीवन के मंगलमय प्रसंग को उपस्थित कर रही हैं। विश्व के विस्तृत क्षेत्र मे जीवन की भूमिका को शुद्ध बनाने की दिशा मे प्रत्येक विवेकशील प्राणी को निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए। प्रभु सभवनाथ का आदर्श जीवन असम्भव को सम्भव कर दिखाने की प्रेरणा दे रहा है तो क्यो नही, हम अपनी आन्तरिक शक्ति को विकसित करके वैसा ही अपना भी सामर्थ्य प्रकट कर सकें ?

मानव अपने जीवन के सम्बन्ध मे आज जिस तरीके से सोचता है, उसमे आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है। वर्तमान चिन्तन प्रवाह पर नियन्त्रण लगाकर उसकी दिशा को बदलनी होगी। आज जिस दिशा मे यह प्रवाह चल रहा है, वह आत्म-प्रगति की दिशा नही है—जीवन को व्यर्थ की लालसाओ मे भटकाने वाली दिशा है। इसे जब तक सही दिशा की ओर नही मोडेंगे तो वाछित सामर्थ्य भी अपने भीतर प्रकट नही कर सकेंगे। जैसे हमे किसी स्थल पर जाना हो और वहाँ की नवीन वस्तुओ को प्राप्त करना हो तो उसके अनुरूप रास्ते मे अपने पास रही हुई वस्तुओ मे हेराफेरी करनी पडती है, उसी प्रकार हमारे मन-मस्तिष्क रूपी पात्र मे आत्मोन्नति की आकाक्षा के साथ कई अनावश्यक अथवा पतनोन्मुखी कामनाएँ भी भरी पडी हैं, उन्हे विकास मार्ग मे छाँटते-छोडते रहने से ही पात्र की स्थिति भी ठीक रहेगी तथा गति का क्रम भी ठीक बना रहेगा। इस विवेक बुद्धि से जब चलेंगे तो असम्भव को सम्भवकारी शक्ति के उत्पादन मे जाकर सफलता मिल सकेगी। मन-मस्तिष्क मे से इन अनावश्यक कामनाओ को छोडते रहने के साथ-साथ प्रबुद्धकारक नये-नये सद्गुणो का समावेश करते रहना पडेगा, जो विकास की दिशा मे अधिक तीव्र गति से हमे अग्रसर बना सकेगे।

[illegible] निर्माण करें

[illegible]

समझ लेना चाहिए। मोटे तौर पर स्थुल बुद्धि से मनुष्य द्वेष उस वृत्ति को समझता है, जब एक-दूसरे का आपस मे कोई विवाद हो और उस विवाद मे मन, वचन और काया की टक्कर हो, तब वे एक-दूसरे के प्रति प्रतिशोध की विचारणा से जिस प्रकार की मनोवृत्ति बनाते हैं—उसे द्वेषपूर्ण मनोवृत्ति कहा जाता है।

किन्तु द्वेष का स्वरूप जो बाहर दिखाई देता है उतना ही नही है। उसकी जडें मनोवृत्ति मे ज्यो-ज्यो अन्दर गहरी जाती रहती है, द्वेष का घनत्व और स्थायित्व भी विकट रूप से बढता जाता है। अन्दर की जड जमने के बाद ही बाहर की शाखा-उपशाखाएँ नजर मे आने लगती हैं। इसलिए विवेकशील पुरुष किसी भी बुराई की जड मे उतर कर उसे वही से नष्ट करने का प्रयास करते है। चाहे भय हो अथवा द्वेप—इनके साथ भी विवेक का प्रयोग इसी रूप मे होना चाहिए।

द्वेष—अरोचक भाव है

द्वेष की सूक्ष्म परिभाषा करते हुए कहा गया है कि अन्तर्मन मे समाये हुए जो अरोचक भाव होते हैं, वे ही द्वेष के रूप मे अन्दर बाहर फूटते और फैलते हैं। अब समझें कि अरोचक भाव क्या हैं? आत्मा की तरह रुचि नही होना, जीवन की शुद्धि और चरम विकास की जिज्ञासा का पैदा नही होना, आत्म स्वरूप को समझने की चेष्टा नही करना आदि ये सब अरोचक भाव हैं। आत्माभिमुखी वृत्ति से अरुचि रखना तथा आत्मा को पतित बनाने वाली लालसाओ व कामनाओ मे रुचि रखना—यह अरोचक भाव का लक्षण है। इन अरोचक भावो मे रमण करना ही द्वेष का मूल रूप है।

वहुतेरे भाई अपने आप की सफाई देने की दृष्टि से कह देते हैं कि मैं तो इस झगडे मे हूँ नही तथा राग-द्वेष से दूर हूँ फिर मुझे धर्म-कर्म करने की क्या आवश्यकता है? उनका कहना होता है कि जब किसी ओर लिप्तता नही है तो साधना क्यो की जाय? ज्ञानियो की दृष्टि मे ऐसा कथन कायरता है और जो कायरता है, वह द्वेष का ही एक रूप है। जीवन की दिशा एव आत्मा के स्वरूप को समझने मे धर्म या साधना नही करके जो उदासीनता का भाव दिखाया जाता है, वह एक प्रकार की अरुचि है है और जो आत्मोन्नति के मार्ग मे अरुचि है तो उसकी जडो पर द्वेष का वट वृक्ष ही फलीभूत होगा।

यदि आत्मा के स्वरूप दर्शन के प्रति अरुचि है, धर्म के विपय मे अरुचि है, धार्मिक व सामाजिक क्षेत्रो मे कार्य करने के प्रति अरुचि है तो यही समझना चाहिए कि उसके मन में द्वेप भरा हुआ है। वह अरुचि उसी द्वेप की सूचना देने वाली है। यह द्वेप मानवता की जडो को ही खोखली वनाता है। इस कारण उपेक्षा और उदासीनता रूपी द्वेप को भी गहराई से समझने की जरूरत है क्योकि ऐसी अरुचि जीवन-विकास के प्रति आवश्यक उत्साह को उत्पन्न नही होने देती है।

के साथ आते होगे कि चलो महाराज आये हुए है तो व्याख्यान में हो आओ, ठीक नही लगेगा। यह एक जो उदासीन वृत्ति है और धर्म स्थान पर जाकर भी अगर यह नही टूटती है तो आत्म स्वरूप के सम्बन्ध मे सही जानकारी भी उन्हे नही हो पाती है।

द्वेष और राग विपरीत भाव होते है। जिसे हम चाहते हैं, उसकी ओर सहज ही आकर्षित हो जाते हैं तो वहाँ राग समझना चाहिए। परन्तु जिससे सीधा विवाद तो नही है, फिर भी जिसके प्रति उपेक्षा का भाव है तो उसका अर्थ यह है कि उसे नही चाहते एव नही चाहने से उसके प्रति उदासीन होते हैं तो वह पूरे तौर पर व्यक्त न हुआ हो, लेकिन है द्वेष का भाव ही। इस भाव से सत्य को जानने के प्रति भी जो उपेक्षा होती है, वह मनुष्य को निष्क्रय बना देती है। एक बार निष्क्रियता मनुष्य के मन मे घर कर लेती है तो फिर सत्कर्म के लिए पुरुषार्थ को जगा पाना भी कठिन हो जाता है।

इस दृष्टिकोण से यदि धार्मिक क्षेत्रो मे पहुँचने वाले प्रत्येक भाई-बहिन तीव्र रुचि के साथ वाणी श्रवण करें एव उसके तत्त्व को पकडने की चेष्टा करें तो उसका अन्तर-अभिप्राय अवश्य ही उसके ज्ञान मे आने लगेगा तथा उसकी रुचि का विकास होता जायगा। रुचि के विकास के साथ परख बुद्धि भी पैनी होती जायगी कि जो कुछ वाणी का क्रम चल रहा है, उसका सार क्या है तथा वह किस प्रकार से ग्राह्य एवं आचरणीय है ? प्रकाश की ऐसी किरणे उसकी रुचि को अतीव प्रगाढ़ बनाती जायेंगी।

द्वेष-वृत्ति बनाम समतामय जीवन

आत्मा मे जब तक राग और द्वेष की वृत्तियो का प्रसार बना रहता है तो उस जीवन मे विभेद की दीवारें भी खडी रहती हैं। राग के पात्र अलग होते हैं तो द्वेष के पात्र अलग। दृष्टि मे भी यही भेद समाया हुआ रहता है। इस विभेद भरे अनुभाव को नष्ट करके सम-दृष्टि बनने का श्रीगणेश समतामय जीवन से किया जा सकता है। "मित्ती मे सव्व भूएसु, वैर मज्झं न केणई" का जब सही तौर पर चिन्तन करें तो समता की प्रकाश-रेखाएं उज्जवल होती चली जाती हैं, क्योकि उस अवस्था मे अद्वेप वृत्ति का प्रसार होने लगता है।

इगलैण्ड का एक प्रसग है कि माईकेल एंजिलो नामक एक कुशल चित्रकार अद्वेप वृत्ति का उपासक था। ईर्ष्या, द्वेप आदि की विकृति से वह सदैव दूर ही रहा। चित्रकला की उसकी प्रतिभा इस कारण काफी विख्यात भी होने लगी। इससे एक दूसरा चित्रकार उसके प्रति द्वेप रखने लगा तथा उसकी कीर्ति को धूमिल करने की चेष्टा करने लगा। वहुत अध्ययन और प्रयास के वाद माईकेल को नीचा दिखाने के

होने देती। उसे कायरता इस तरह घेर लेती है कि वह जैसे कभी भी कोई सार्थक कार्य नही कर सकेगा। इस हीनमन्यता को भी समता दर्शन की आराधना से समाप्त किया जा सकता है। समता समान भावना और समान सम्मान ही नही देती, बल्कि समान शक्ति का बोध भी कराती है। यही कारण है कि समता दर्शन का उपासक अभय, अद्वेष और अखेद वृत्तियो को ग्रहण करता हुआ पुरुषार्थी एव पराक्रमी भी बन जाता है। राष्ट्रीय एवं धार्मिक जीवन मे यदि समतामय जीवन का विकास होता है तो कई समस्याओ का तो स्वाभाविक रूप से ही समाधान निकल आयेगा। समता धारण करने से अनेकानेक विकृतियाँ सहज ही मे समाप्त हो जायेंगी और एक हार्दिक सम-रसता के फैलने से समग्र वातावरण व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर आत्मीय बन जायगा।

अद्वेष—असभव को सभव बना दे

अरुचि को मिटाकर यदि आप अपने जीवन को रुचिमय बना लें अर्थात् द्वेष के कलुष को धोकर आप अद्वेष वृत्ति के उपासक बन जाएँ तो जीवन का यह आलोक प्रत्येक कार्य को सभव बना देगा। उस उमगपूर्ण एव पराक्रमी जीवन के समक्ष कोई कार्य असभव रहेगा ही नही। इस सम्बन्ध मे एक ऐतिहासिक रूपक मैं आपको सुनाता हूँ। यह रूपक भी इंगलैण्ड का ही है।

विलियम प्रथम का जमाना था। तब बिजली या घडियो का आविष्कार नही हुआ था। लकडी के मकानो मे दीपक जलाए जाते थे। राज-भवन के ऊपर एक बडा घटा लटकता था, प्रातःकाल ८ बजे उसकी ध्वनि सुनकर नागरिक दीपक बुझा देते थे। उस समय मे एक तरुण सैनिक, जिसका विवाह हुए एक ही वर्ष हुआ था, कोई अपराध कर बैठा जिसके फलस्वरूप उसे फाँसी की सजा मिली। फाँसी लगाने का दिन और समय ८ बजे निश्चित हो गया।

सैनिक की तरुण पत्नि ने जब यह सुना तो वह स्तंभित रह गई और उसने किसी भी प्रकार अपने पति को फाँसी से बचाने का निश्चय किया। प्रारम्भ मे अधिकारियो से उसने निवेदन किया किन्तु उसे सफलता नही मिली। उसने भी द्वेष बुद्धि नही लाते हुए साहस के साथ सकल्प किया कि कैसे भी हो—मैं कार्य को अवश्य ही सिद्ध करूँगी। इसके बाद वह उस घटे के पास पहुँची तथा उस घटे को बजाने वाले अन्धे और बहरे व्यक्ति को उसने समझाया कि आज जब ८ बजे तो वह घटे का रस्सा न खीचे क्योकि उस दिन ८ बजे उसके पति को फाँसी देने का निश्चय हुआ था। नैतिकता मे रुचि रखने वाले अन्धे ने उस तरुणी की बात नही मानी। तब वह स्वय ऊपर की मजिल मे चली गई और ज्यो ही ८ बजे, अन्धे ने रस्सा खींचना चाहा, तरुणी घटे को पकड कर लटक गई जिससे वह बजा ही नही। अन्धे और बहरे को इसका क्या पता चलता कि घटा बजा या नही ?

आनन्द के प्रवाह में

"खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकिये रे···· ·· ·· "

प्रभु को मंगलाचरण के रूप मे स्मृति पटल पर लाना आवश्यक है। तदनुसार प्रार्थना की पक्तियो के माध्यम से प्रभु का स्मरण हो आया है। प्रभु का नाम सभवनाथ है और हमे भी उनकी सेवा के भेद को समझ कर उनके आदर्शों का इस प्रकार अनुकरण करना है कि हम भी असभव को सम्भव कर दिखाने के योग्य शक्तिधर बन सके।

प्रभु की सेवा आत्मशुद्धि के लिये है। ये जो पर्यूषण पर्व के दिन है—आत्मशुद्धि के प्रयोजन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माने जाते हैं। सभवनाथ भगवान् की प्रेरणा से आत्मा मे एक अपूर्व उल्लास विकसित होता है और इसी उल्लास के साथ यदि अभय और अद्वेप वृत्तियो को अपनाकर अखेदमय बनने का प्रयास किया जाय तो प्रभु-सेवा की सुदृढ पृष्ठ-भूमिका का सहज ही निर्माण किया जा सकेगा।

संभवनाथ भगवान् के नाम के साथ जो एक सकेत जुडा हुआ है, उसमे मानव के अन्त स्तल को स्वच्छ बनाने का ही निर्देश प्रतीत होता है। यह जो शरीर दृष्टिगत हो रहा है, इस वाह्य शरीर का वास्तविक स्वरूप तो भीतर मे है। मनुष्य की वाहरी आकृति का यह जो बाहर से दीखने वाला दृश्य है, वह आन्तरिक दृश्य पर ही निर्भर करता है। अन्तर का दृश्य यदि स्वच्छ और विशुद्ध है तो उसकी आभा वाह्य दृश्य पर भी फूटे विना नही रहती है। उस आन्तरिक चमक की उपस्थिति मे वाह्य आकृति कैसी भी हो, उसका महत्व नही रहता किन्तु वह अन्दर की चमक इन्सान के व्यक्तित्व को निखार देती है। भीतरी सुन्दरता वाह्य शरीर को भी कमनीय वना देती है। ऐसी आत्मिक स्वच्छता और सुन्दरता ही प्रत्येक पुरुप के लिये लक्ष्य वननी चाहिये।

आत्मिक सौन्दर्य के साधन

अन्तरात्मा की पृष्ठ-भूमि को परिमार्जित एवं सशोधित करने के लिये उक्त प्रार्थना मे जो तीन साधन—अभय, अद्वेप और अखेद के रूप मे वताये गये हैं, वे पूरी

बनती है। प्रभु महावीर ने और उनसे भी पूर्व होने वाले सभी तीर्थंकरो ने चार तीर्थों की स्थापना की एव मुख्य रूप से उन्होने मानव जीवन को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए अभ्यास या साधना पर बल दिया। उन्होने यहाँ तक कह दिया कि चार अग दुर्लभ है जिनमे पहला क्रम 'माणुसत्तो'—मानव जीवन को दिया है और इस कारण कि इसी जीवन मे सद्वृत्तियो का सफलता पूर्वक अभ्यास सम्पादित किया जा सकता है।

अभ्यास का ऐसा क्रम बारहो महीने चलना चाहिये, किन्तु उसमे भी पर्यूषण-पर्व के दिवसो मे तो यह अभ्यास कठिन निष्ठा के साथ परिपुष्ट होना चाहिये। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से पर्यूषण पर्व का अन्तिम दिन एक ही है, लेकिन पहले के सात दिन प्रधानत· अभ्यास के लिये ही है। अन्दर की पूर्व तैयारी इन दिनो मे बन जाए तो सवत्सरी का महापर्व आत्मा के लिये आदर्श सिद्ध हो जाय। ये दिन इस प्रकार की आत्मालोचना के लिये भी है कि गत वर्ष के पर्यूषण पर्व के उपरान्त इस पर्व तक जीवन की घडियो ने कितनी प्रगति की, दैनिक आचरण कितना संशोधित होकर निर्मल बना तथा आत्मा ने सद्वृत्तियो का कितना सफल अभ्यास किया? कम से कम इन आठ दिनो मे भी सासारिक वृत्तियो का उपशम कर दिया जाय तब भी अभ्यास के रूप मे जीवन विकास के नये द्वार खुल सकते है।

आत्मा का खेद कैसे मिटेगा?

यह गाया जाता है कि "पर्व पर्यूषण आया और दुनिया मे आनन्द छाया" तो इसका अर्थ क्या है? पर्यूषण पर्व मे आनन्द सारी दुनिया मे फैले—यह तो बहुत अच्छी बात है किन्तु यह अच्छी बात भी तभी बनेगी जब यह आनन्द एक-एक आत्मा मे फैलेगा। ऐसा ही आनन्द जब घनीभूत होता जायगा तो हकीकत मे सारी दुनिया का आनन्द बन जायगा।

मूल समस्या इसलिये यह है कि आप मे से एक-एक भाई और बहिन आनन्द के प्रवाह मे अपनी-अपनी आत्मा को कैसे डुबोएँ और वह भी इस महापर्व के अवसर पर। इस तरह के अखूट आनन्द का आनन्द उठाने के लिये अपने अन्तर का अवलोकन एव परिमार्जन करना होगा। जानते या अजानते आप निरन्तर भय और द्वेष का अभ्यास करते चले आ रहे है—अभ्यास क्या कहे, इनमे लिप्त होते हुए चले आ रहे हैं और इसीलिये आत्मा का खेद कभी मिटता नही तथा आत्मानन्द का प्रवाह फूटता नही। पर्यूषण के दिनो मे अन्तगढ सूत्र का वाचन इसी उद्देश्य से किया जाता है कि जब आप उसमे वर्णित महापुरुषो का साधना-वृत्त सुनो तो उनको स्मरण करके आप मे भी प्रेरणा जागे कि आप अब ही सही, पर इन असद् प्रवृत्तियो से अपने आपको मुक्त कर लेने का दृढ संकल्प ले सके और अभी से उसके लिये अपना अभ्यास क्रम प्रारम्भ कर सकें।

किन्तु आप जानते हैं कि हवा के बाद पानी ही शरीर रक्षा के लिए सर्वाधिक अनिवार्य पदार्थ है।

हवा, पानी और भोजन जिस प्रकार शरीर के लिये अनिवार्य पदार्थ है और उन्हे रोज प्रयोग मे लेते हुए भी उनसे खेद नही पाते उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य आदि गुण आत्म-विकास के लिये अति अनिवार्य हैं। अत आत्म-विरोधी दुर्गुणो पर विजय प्राप्त करते हुए आत्म विकासक सद्‌गुणो की आराधना से चित्त सदैव हर्षित होता रहे—इसे अखेद वृत्ति कहते है। अखेद का अर्थ है खेद-रज का नही होना, और जहाँ खेद नही है, वहाँ आनन्द ही तो होगा। अखेद वृत्ति से ही आनन्द की उपलब्धि होती है।

प्रकृति के साथ जिस रूप मे आप अपने बाह्य जीवन का उमंग के साथ सम्बन्ध जोडते हैं, उसी रूप मे जीवन रूपी सूर्य के साथ अपना नित नवीन सम्बन्ध जोडिये। जीवन वही है किन्तु सूर्य की तरह नित्य नया सन्देश उससे प्राप्त कर, ताकि नित्य नई कर्मठता का विकास हो सके। यह कर्मठता आत्मा की शक्ति को नित नये रूप मे उभारेगी। इसी अन्तर्शक्ति से नित्य नये-नये आनन्द का प्रवाह प्रस्फुटित होता रहेगा।

पर्यूषण और आनन्द की अनुभूति

पर्यूषण पर्व का प्रसंग अपने मे और सारे ससार मे सच्चा आनन्द और उल्लास उत्पन्न करने के लिये है। पर्यूषण पर्व के सम्बन्ध मे स्वर्गीय आचार्य श्री के अन्तर्नाद की जो कडियाँ हैं, उनका उच्चारण मैं कर रहा हूँ, और आप भी करे—

यह पर्व पर्यूषण आया,
दुनिया मे आनन्द छाया जी।
क्रोधादिक द्वेष मिटाओ
आतम शुद्धि प्रकटाओ ' 'जी।

आप इन कडियो के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध जोडिये। बोलने की दृष्टि से आप उच्चारण करने मे संकोच कर गये कि गाने का काम तो महाराज का है, हमको नही गाना है। मैं आपसे पूछूँ कि आनन्द लेने का काम महाराज का है या आपका भी है? इन आनन्द की कडियो को आप भी गायेगे तो अपकी जिह्वा पवित्र होगी, आपका मन पवित्र होगा और ऐसी अवस्था मे क्या आपका मन आनन्द की हिलोरें नही लेने लगेगा? पर्यूपण पर्व के अवसर पर तो आपको ऐसे आनन्द के लिए अतीव लालायित रहना चाहिए।

किन्तु आप जानते हैं कि हवा के बाद पानी ही शरीर रक्षा के लिए सर्वाधिक अनिवार्य पदार्थ है।

हवा, पानी और भोजन जिस प्रकार शरीर के लिये अनिवार्य पदार्थ है और उन्हे रोज प्रयोग मे लेते हुए भी उनसे खेद नही पाते उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य आदि गुण आत्म-विकास के लिये अति अनिवार्य है। अत आत्म-विरोधी दुर्गुणो पर विजय प्राप्त करते हुए आत्म विकासक सद्‌गुणो की आराधना से चित्त सदैव हर्षित होता रहे—इसे अखेद वृत्ति कहते है। अखेद का अर्थ है खेद-रज का नही होना, और जहाँ खेद नही है, वहाँ आनन्द ही तो होगा। अखेद वृत्ति से ही आनन्द की उपलब्धि होती है।

प्रकृति के साथ जिस रूप मे आप अपने बाह्य जीवन का उमंग के साथ सम्बन्ध जोडते है, उसी रूप मे जीवन रूपी सूर्य के साथ अपना नित नवीन सम्बन्ध जोडिये। जीवन वही है किन्तु सूर्य की तरह नित्य नया सन्देश उससे प्राप्त कर, ताकि नित्य नई कर्मठता का विकास हो सके। यह कर्मठता आत्मा की शक्ति को नित नये रूप मे उभारेगी। इसी अन्तर्शक्ति से नित्य नये-नये आनन्द का प्रवाह प्रस्फुटित होना रहेगा।

पर्यूषण और आनन्द की अनुभूति

पर्यूषण पर्व का प्रसंग अपने मे और सारे ससार मे सच्चा आनन्द और उल्लास उत्पन्न करने के लिये है। पर्यूषण पर्व के सम्बन्ध मे स्वर्गीय आचार्य श्री के अन्तर्नाद की जो कडियाँ हैं, उनका उच्चारण मैं कर रहा हूँ, और आप भी करें—

यह पर्व पर्यूषण आया,
दुनिया मे आनन्द छाया ... जी।
क्रोधादिक द्वेष मिटाओ
आतम शुद्धि प्रगटाओ ... जी।

आप इन कडियों के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध जोडिये। बोलने की दृष्टि से आप उच्चारण करने मे संकोच कर गये कि गाने का काम तो महाराज का है, हमको नही गाना है। मै आपसे पूछूँ कि आनन्द लेने का काम महाराज का है या आपका भी है? इन आनन्द की कडियो को आप भी गायेंगे तो आपकी जिह्वा पवित्र होगी, आपका मन पवित्र होगा और ऐसी अवस्था मे क्या आपका मन आनन्द की हिलोरें नही लेने लगेगा? पर्यूषण पर्व के अवसर पर तो आपको ऐसे आनन्द से नित्य प्रति आप्लावित रहना चाहिए।

पर्व के इन पवित्र दिनो मे आप जितनी गहराई से तात्त्विक चिन्तन और मनन करेंगे, उतनी ही आनन्द की सरस धारा आपके अन्तर्मन को स्नेहपूर्वक आल्पावित करती रहेगी। आपके अन्तर्मन का आनन्द दुनिया मे विखरेगा और दूसरी ओर दुनिया मे छाया हुआ सच्चा आनन्द भी आपके मनमयूर को हर्षातिरेक से आनन्दित वना देगा। आप यह सोचें कि दुनिया का आनन्द हमारे किस काम आएगा तो यह बुद्धिमानी नही होगी। दुनिया की विशिष्ट विभूतियो के आत्मिक आनन्द मे आपको भी आनन्दित होना है और वैसे आनन्द को अपने भीतर प्रवाहित करना है, इसे न भूलें। 'दुनिया' की जगह गायन मे 'जयपुर' जोड दें—तव तो महसूस करें कि जयपुर की जनता आनन्द का अनुभव किन परिस्थितियो मे कर मकेगी ? विगत वारह मास मे जितने भी राग-द्वेष या भय-आतक के प्रसग आये हो, उन्हे आज से भूलते हुए तथा इन असद् प्रवृत्तियो से विमुख वनते हुए यदि आज से प्रत्येक भाई-वहिन अपने मन मे अभय, अद्वेष एव अखेद की वृत्तियो को ग्रहण करने लग जाए तो सोचिए क्या जयपुर मे आनन्द ही आनन्द नही छा जायगा ?

भय, द्वेष व खेद से मुक्त वनिये

पर्यूषण पर्व के आठ दिनो के लिए तो कम से कम मन मे निश्चय करें कि आप न तो स्वय भयभीत होगे तथा न ही अपनी ओर किसी को भयाक्रान्त करने की चेष्टा करेंगे। दूसरे, किसी के प्रति आप अपने मन मे द्वेष भाव नही रखेंगे तथा न ही द्वेष मे प्रेरित होकर किसी के विरोध मे कोई प्रतिशोध भरा काम करेंगे। तीसरे, धार्मिक प्रवृत्तियो के प्रति आप कभी खेद का अनुभव नही करेंगे, वल्कि सूर्य की तरह स्फूर्ति देने वाली इन प्रवृत्तियो से अज्ञान वश ऊव कर अपने आपको हीन मान वैठे हो, उन्हे आप उत्साहित कर उनके खेद को दूर करने का सत् प्रयास भी करेंगे। धार्मिक प्रवृत्तियो के प्रति नित नई प्रेरणा, नई स्फूर्ति और नई जागृति ग्रहण करने के मानस का विकास एव प्रसार किया जाना चाहिए।

भय, द्वेष और खेद मे यदि इस प्रकार अपने-अपने आप को मुक्त करने का प्रयास प्रारम्भ इन पर्यूषण पर्व के दिनो मे कर दिया तो निश्चिन्त रहिये कि आपके चरण आत्मोन्नति के मार्ग पर आगे वढ चुके है। वैसी स्थिति मे आपके मन और मस्तिष्क मे उत्साह और साहस का ही सचार नही होगा, वल्कि एक अपूर्व आनन्द का आत्मा के अणु अणु मे सचार हो जायगा, जो आनन्द न कभी नष्ट होता है और न कभी नीरस वनता है। यह आनन्द सम-रस वना रहता है।

अभ्यास के वावजूद भी भय, द्वेष और खेद की वृत्तियां यदि सताने मे वाज नही आती हैं तो इन महापर्व मे तपश्चर्या से इन्हे क्षीण वनाइये। कई सन्त, सतियां भाई और वहिनें तपस्या कर रहे हैं और तप का वास्तविक प्रयोजन ही यह है कि तप के आराधन से जीवन को विदिशा मे ले जाने वाली असद् प्रवृत्तियां कृश वनें,

बल्कि नष्ट हो जाएँ। जीवन को माँजने के लिए राग-द्वेष की मनोवृत्ति को घटाने के लिए और उन कुटिल गाँठो को काटने के लिए, जिनके कारण भाई-बहिन मे विछोह पड जाता है—तपस्या का आश्रय लिया जायगा तो उससे आप और पर्व—दोनो की शोभा होगी।

समय का सदुपयोग करने से न चूकें

महापर्व के रूप मे यह जो हाथ मे सुअवसर आया है, उसे हाथ से यो ही न निकल जाने दें। यह समय फिर लौट कर नही आयेगा। आये हुए समय का सदुपयोग करने से कतई न चूकें। ज्यो-ज्यो जीवन के क्षण बीतते जा रहे हैं, परिस्थितियाँ भी बदलती जा रही है। इन दिनो मे आनन्द के प्रवाह को प्रभावशाली बनाने के लिए विशेष कार्यक्रम आयोजित किये जाने चाहिए, जिनमे अधिक से अधिक लोग शामिल होकर जीवन की नई कडियो का अनुसंधान कर सके एव टूटी कडियो को जोड सकें। सन्त लोग कितने ही दृष्टान्तो से शास्त्रो की वाणी सुनाते व समझाते हैं, उसे ध्यान-पूर्वक सुनिये और उन उपदेशो के साथ अपनी आत्मा की भावना एव साधना को जोडने की कोशिश कीजिये। यह पर्यूषण पर्व का प्रसग सभी प्रकार से अन्तरावलोकन करने का है। उसके बाद जो करणीय कार्य आपने नही किये हैं, उनकी ओर इन दिनो मे प्रवृत्ति करें ताकि अन्तर्जागृति का सजग वातावरण तैयार हो सके।

यह अन्तरावलोकन इन रेखाओ पर हो सकता है कि पिछले बारह माहो मे आपने अपने जीवन के अन्दर किस प्रकार कलुषित भावनाओ को पैदा किया? इसके विपरीत श्रावक के कितने व्रत ग्रहण किये और उनका कैसा पालन किया? किस प्रकार के उत्तरदायित्व आपने ग्रहण किये और उनका निर्वाह कितनी ईमानदारी से आपने किया? जिम्मेदारी लेकर उसमे गलियाँ निकालने की कोशिश तो आपने नही की? परिवार, समाज या राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण प्राणी समूह के साथ आपने अपनी जिम्मे-दारियाँ निवाही या नही? एक सूत के धागे के बिना समाज की माला के मोती जो अनादरपूर्वक इधर-उधर लुढक रहे हैं, क्या आपने किसी प्रकार उन्हे शान्ति पहुँचाने का प्रयत्न किया है? समाज का हर छोटा-बडा सदस्य मोती के मानिन्द है और जब आप अपनी सद्वृत्तियो से उनकी एक सूत्र मे माला बनाना चाहेगे तो वह एकता जीवन विकास की बहुत बडी सहायिका हो सकेगी। इन सब मुद्दो पर यदि आप चिन्तन करेंगे और सही दिशा की ओर अपने जीवन को मोडने की कोशिश करेंगे तो इस महापर्व के समय का अवश्य ही श्रेष्ठ उपयोग हो सकेगा।

हर भाई के आनन्द के लिए

आज व्यक्ति और समाज—दोनो की जो दुर्दशा हो रही है उसे मिटाने के लिए आप सबको इस महापर्व के पावन अवसर पर गहरा चिन्तन करना चाहिए कि समाज

के मणि और मोती माला से दूर छिटक कर इधर-उधर क्यो लुढकते फिर रहे हैं ? क्या आपने समाज के अपने सभी भाइयो की तरफ देखा है ? आपने तो अपनी खुशहाली हासिल कर ली, लेकिन यदि आपका छोटा भाई आर्थिक या अन्य किसी प्रकार से खुशहाल नही है तो क्या आपने इस कमी को महसूस किया है ? समाज मे रहते हुए प्रत्येक समर्थ व्यक्ति पर कमजोर वर्गों के प्रति कई उत्तरदायित्व आते हैं और उन्हे उन उत्तरदायित्वो का निर्वहन ईमानदारी और इन्सानियत से करना चाहिए।

भारत की धरती पर तो दुश्मन का भी आदर किया गया है, फिर यदि हर छोटे-बडे भाई के सच्चे आनन्द के लिए प्रयास नही किया गया तो वह इस उदार सस्कृति के भी विरुद्ध होगा। भाई चारा यहाँ का सबसे बडा गुण रहा है। राष्ट्र के प्रति भी वैसे ही उत्तरदायित्व हैं और उनके प्रति भी आपको निष्ठा होनी चाहिए, क्योकि ये सभी प्राथमिक पाठशालाएँ हैं जहाँ आपने यदि निष्ठा से विद्याध्ययन किया तो आध्यात्मिक क्षेत्र के महाविद्यालय मे भी आपकी सफलता शानदार रहेगी। सारे विश्व के मानव एव प्राणी समुदाय के प्रति तब आपकी जो उदार एव सहयोगी भावना बनेगी, वही भावना हर भाई के हृदय मे आनन्द का प्रवाह प्रवाहित करने मे सक्षम बन सकेगी।

आनन्द का व्यापक विस्तार

जब यह चिन्तन किया जायगा कि इस सृष्टि मे रहने वाले प्रत्येक प्राणी का उत्तरदायित्व एक-दूसरे पर रहा हुआ है और उसकी आध्यात्मिक धरातल पर भी सम्यक् पूर्ति की जानी चाहिए तो आनन्द का व्यापक विस्तार होने लगेगा। श्रावक-वर्ग के जो व्रत हैं, उनमे पहला है—प्राणातिपात और उसका गूढ अर्थ उसे सारे ससार के प्राणियो की प्राण-रक्षा के साथ जोडता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्रत का गूढ अर्थ हृदय मे सँजोना चाहिए। जब एक-एक व्रत के अनुपालन पर गम्भीर चिन्तन किया जायगा तो अपने उत्तरदायित्वो का भान होगा और उनके प्रति अपने निर्वाह-प्रयास का भी। किन्तु समस्या यही है कि क्या आप ऐसे चिन्तन के लिए समय निकालते हैं और अपने आपकी सच्ची आलोचना करते है ?

आज आपका प्रयास परिवार मे, समाज मे, राष्ट्र मे और समूचे विश्व मे एक उद्देश्य को समाहित करने के लिए ऐसे धरातल पर आरूढ होने का होना चाहिए जहाँ सभी ओर आनन्द के साथ पर्यूषण पर्व को मनाया जा सके। समता सिद्धान्त की दृष्टि से अगर आपने अपने जीवन की कलियाँ विकसित की तो एक दिल, एक दिमाग, एक विचार और एक आचार के साथ प्रभु सेवा की सुदृढ पृष्ठ-भूमिका का निर्माण करने मे भी आप सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

७ चरम आवर्त के लक्ष्य की ओर

"चरमावर्त हो चरम करण तव रे . "

मंगलमय जीवन के लिये प्रभु का नाम सार रूप होने से प्रार्थना का सर्वप्रथम उच्चारण किया जाता है और यह प्रार्थना भगवान् सभवनाश की ही चल रही है। प्रार्थना की शब्द-रचना को बोलते हुए उसमे निहित अर्थ के अनुसधान की तरफ जब हमारा लक्ष्य बनेगा तो हमारे सामने जीवन-विकास का पथ भी स्पष्ट हो जाएगा।

अर्थ-अनुसधान की दृष्टि से प्रभु सेवा की पृष्ठ-भूमिका के निर्माण हेतु जिन अभय, अद्वेष एव अखेद की वृत्तियो का विश्लेपण किया गया है, उनके जीवन मे उतर आने पर भव-भ्रमण की समाप्ति का प्रसग बन सकता है। इसका कारण है कि इन सद्वृत्तियो के धारण करने से दृष्टि आत्माभिमुखी बन जाती है और आत्मा मे विद्यमान दोषो की ओर देखने की प्रवृत्ति बनती है जिससे उन्हे दूर करने का सकल्प भी होता है। आत्मा के दोषो को देखेंगे तथा समझेंगे तभी आत्मा के मूल स्वरूप की पहिचान हो सकेगी। मूल स्वरूप को प्राप्त करने की इस पहिचान के बाद इतनी ललक बढ़ जाती है और चरम विकास की तरफ अग्रसर होने की रुचि इतनी तीव्र बन जाती है कि जीवन की कर्म-धारा एक दम मे नया उन्नायक मोड ले लेती है। तब वह आत्मा भय, द्वेष और खेद से मुक्त होकर अहिंसा रूपी प्रमुख साधन को पकड कर समता के साध्य की ओर गति करने लग जाती है। ऐसी स्थिति मे यह अवसर पैदा हो सकता है कि अनादि काल के जन्म-मरण के चक्र के बाद जीवन चरम आवर्त याने अन्तिम चक्कर का रूप ग्रहण कर ले।

पृष्ठभूमि के बाद आवर्त-मुक्ति

चतुर्गतिमय ससार की चौरासी लाख योनियो मे इस आत्मा ने अनेकानेक आवर्त लगाये हैं और अब भी जब तक पृष्ठभूमि की उत्तम तीन अवस्थाओ का निर्माण नही किया जाता—कहा नहीं जा सकता कि अभी कब तक और कितने आवर्त इस

आत्मा को और लगाने पडेंगे ? किन्तु यदि अभय, अद्वेष और अखेद-वृत्तियो को जीवन मे उतार कर आत्म-शक्ति जगाई जायगी एव आत्मानन्द को प्रस्फुटित किया जायगा तो संभव वन सकता है कि आवर्त-मुक्ति का प्रसग भी वन जाय—भव भ्रमण का क्रम ही टूट जाय। प्रार्थना मे इसका सकेत दिया गया है—

चरणावर्त हो चरम करण तव रे
भव परिणति परिपाक।
दोष टले वलि दृष्टि खुले रे
प्राप्ति प्रवचन वाक्॥

ज्ञानियो के ज्ञान से यह विदित हो सकता है कि अमुक आत्मा का अव चरमावर्त आ गया है। अनन्तकाल से मिथ्यात्त्व एव मोहकर्म ने आत्मा की वास्तविक शक्ति को आच्छादित कर रखा है। शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से इस मोह कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोडाक्रोडी सागरोपम से अधिक बताई गई है। उसमे से ६९ क्रोडाक्रोडी सागरोपम की स्थिति समाप्त हो जाय और दशाक क्रोडाक्रोडी सागरोपम अवशेष रहे तव इस आत्मा को धर्म का शब्द कुछ प्रिय लगने लगता है। आप देखते होगे कि कई आत्माओ को धर्म पालन तो दूर रहा—धर्म नाम से भी चिढ होती है। ऐसी आत्माओ के विषय मे ज्ञानियो का कथन होता है कि उन पर मोह कर्म का भारी पर्दा पडा हुआ है।

मोह कर्म की ग्रंथि

मोह कर्म की गाठ वास्तव मे बडी जबरदस्त होती है जो आत्मा का रुख ही धर्म की ओर नही मुडने देती है। इस गाठ पर आसक्ति की ऐसी चिकनाई होती है कि जव तक आत्मा महान् पराक्रम न करे—इस गाठ का खोलना अशक्य सा होता है। ससार के वासनासिक्त पदार्थों के साथ सदा के लिये चिपके रहने की जो यह तीव्र ग्रंथि होती है, वही इस आत्मा के विवेक को भी हर लेती है। अवधि पकने पर जव वह ग्रंथि टूटती है तो आत्मा के चरमावर्त के बनने की स्थिति पैदा होती है। इसे ही चरम करण कहा गया है।

चरम करण के समय उस आत्मा को उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। सम्यक्त्व प्राप्ति मे करण की यह स्थिति बनती है कि सबसे पहले यथाप्रवृत्तिकरण होता है, उसके वाद अपूर्वकरण तथा तदनन्तर अनिवृत्तिकरण होता है। इनके वीच आत्मा शान्त-प्रशान्त वनती रहती है। यह करणो की परिभाषा एक तरह से आध्यात्मिक उल्लास की अवस्थाओ की वर्णन रूप है। अन्तर मे श्रेष्ठ परिणामो की उज्ज्वलता आती है तो आत्मिक शक्ति अगडाई लेकर प्रबुद्ध दशा को प्राप्त होती है। तव ये अवस्थाएँ कारणिक वनती हैं। उस कारणिक अवस्था के साथ जव उपशम

सम्यक्त्व के अन्दर शान्त-प्रशान्त रूप बनता है तो उस समय यह महसूस गिरी होती है कि कौन-कौन सा दोप किस-किस रूप मे आत्मा के साथ लगा हुआ है और उस दोप का परिमार्जन किम प्रकार किया जा सकता है ?

सम्यक् दृष्टि का उद्गम

सदैव सद्धर्म पर विश्वास एवं वीतराग वाणी के प्रति अटूट निष्ठा रखने वाले प्राणियो के अन्तर मे जब सुदृढता का वातावरण बनता है, तव मोह कर्म की ग्रथियाँ दवती हुई अपना प्रभाव खोने लगती हैं। उम अवस्था मे उपशम सम्यक्त्व का उद्गम होने के कारण सम्यक् दृष्टिपना आता है। और यदि वह सुदृढ निष्ठा का उल्लास स्थायी रूप ग्रहण करने लगता है तो उससे ऊपर की स्थिति मिल सकती है और यदि फिर मलिनता प्रवेश कर जाय तो आत्मा की अवस्था निम्न स्तर पर भी जा सकती है।

कल्पना करें कि एक मलिन वस्त्र को अच्छी तरह साफ कर लिया, मगर सुखाते वक्त असावधानी से हाथ से गिर जाय और उसके मिट्टी लग जाय तो वह फिर मलिन हो जाता है। उमी प्रकार परिणामो के असावधानीपूर्ण उद्वेग के कारण आत्मा की एक वार निखरी हुई उज्ज्वलता पुन. मलिन हो सकती है। इस मलिनता को स्थायी रूप से नष्ट करने के लिये नियमित अभ्यास और प्रयास किया जाना जरूरी होता है। इसमे जो सहायक अवलम्बन मिल सकता है, वह है वीतराग वाणी, महापुरुषो के आदर्शों का स्मरण तथा सन्त पुरुषो का सम्पर्क।

आदर्श जीवन-वृत्तो की प्रेरणा

उपशम मे बुराइयो का दमन होता है, नाश नही। अत. जिस क्षण आत्मा के परिणामो मे दुर्वलता आ जाती है, वे बुराइयाँ फिर से भभक उठती हैं। इसलिये उपशमित कर्म पुज को क्षय करने की दिशा मे आत्मा का पुरुपार्थ लगना चाहिये। एक वार उपशम के वाद अगर आदर्श पुरुषो के जीवन वृत्तो का स्मरण किया जाय तथा निरन्तर मन की एकाग्रता उन तरफ मोडी जाय तो वैसा उपशम क्षय की ओर आगे वढ सकता है। उपशम से क्षयोपशम और फिर क्षय का क्रम वताया गया है।

पर्यूषण महापर्व के अवसर पर अन्तगढ सूत्र के वाचन का यही अभिप्राय है कि महापुरुषो की जीवन प्रेरणा से आत्मा के परिणामो मे कुछ ऐसी अद्भुत उत्कृष्टता आए कि आत्मा के लिये चरम आवर्त का प्रसग पैदा हो जाय। अन्तगढ सूत्र के जिन दिव्य जीवन वृत्तो का आज मैं उल्लेख करना चाहता हूँ, वे हैं अरिष्टनेमि भगवान् के दिव्य समृद्धि के स्वामी तथा कमनीय कान्ति के धारक छ समान अवस्था वाले भ्राताओ के जीवन वृत्त। प्रचुर ऐश्वर्य्य के बीच जन्म लेने वाले इन छ भ्राताओ का चरम आवर्त का अवसर जब समीप आ गया तो इन्होंने अरिष्टनेमि भगवान् के चरणो

मे एक साथ संयम अगीकार किया तथा तपपूर्ण साधना मे निरत हो गये। उस अवस्था मे उनके आन्तरिक जीवन का रूप ही 'वदल गया। वाह्य दृश्यमान शरीर तो वैसा ही रहा, बल्कि कृश हो गया, किन्तु उनकी आत्माओ की उज्जवलता एवं पवित्रता का स्तर असीम ऊँचाइयो तक ऊपर उठ गया।

देवावि तं णमंसन्ति ....

जब कई मनुष्यो का एक सा शरीर हो, सभी शरीरो की एक सी प्रक्रिया हो, तब क्या कारण है कि एक शरीर पूजनीय और देवताओ तक के द्वारा वन्दनीय वन जाता है जबकि वैसे ही दूसरे शरीरो को कोई पूछता तक नही। व्यक्तित्व का ऐसा निर्माण आत्मिक उन्नति के बल पर ही तैयार होता है। उसका कारण दशवैकालिक सूत्र मे बताया गया है—

"देवावि तं णमसन्ति, जस्स धम्मे सयामणो।" देवता भी उस पुरुप की वन्दना करते हैं जिसके मन मे सदैव धर्म का निवास हो जाता है। और धर्म क्या है? अपने मूल स्वरूप की ओर अभिमुख होकर उसे पूर्णतः प्राप्त करने की दिशा मे गति करने का नाम ही तो धर्म है। धर्म की गूढता मे जिस आत्मा के परिणाम अधिक से अधिक भीजते हुए चले जायेंगे तो उसके चरम आवर्त का अवसर भी समीप आता जायगा।

चरम आवर्त का मुख्य द्वार

चरम आवर्त वनने की दृष्टि से अन्तःकरण की ज्योति को प्रज्वलित करनी है तो उसका मुख्य द्वार सन्त जीवन है। इसी सन्त जीवन के माध्यम से इन्सान स्वय के जीवन मे चरम आवर्त की उज्ज्वल क्रान्ति पैदा कर सकता है।

आरिष्टनेमि के उपरोक्त छ हो भ्राता यद्यपि बाहर से तो वेश की दृष्टि से ही परिवर्तित दिखाई देते थे किन्तु सयम ने उनके अन्तःकरण को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया था। महाव्रतो के अनुपालन से उन्होने अनूठे आत्मिक ओज को प्राप्त कर लिया था। आज भी सन्त जीवन इस संसार के सामने है, किन्तु वह उसे सिर्फ इस हाड-मास के शरीर के माध्यम से ही जानने की चेष्टा करता है तो उसे भला आन्तरिक विकास की अनुभूति कैसे हो सकती है?

सन्त जीवन को जब उसके वास्तविक स्वरूप के साथ देखा जायगा तो सच्चे सन्तो के अन्तर तक भी दृष्टि पहुँच सकेगी और ढोगी सन्तो की परख भी की जा सकेगी। वीतराग देवो ने सूत्रो के पन्नो पर स्पष्टत समझा दिया है और कसौटियाँ निर्धारित कर रखी है कि सन्त जीवन कैसा होगा? सन्तो को पाँच महाव्रत अगीकार करने होते है जिनमे से पहला महाव्रत अहिंसा का है। इसके अनुसार समग्र विश्व मे

रहने वाले समस्त प्राणियो के प्रति याने सभी वर्गों के मनुष्यो, पशुओ, देवो और नारकीयो के साथ सन्त को अपनी आत्मीय भावना जागृत करनी होती है। जव वह ऐसा करता है, तभी उसके पाप कर्मों का वन्ध नही होता है।

अहिंसा का समग्र रूप सन्त जीवन मे दिखाई देना चाहिये। कहा है—

"सव्वं भूयस्स सव्व भूयाई पासओ।
पिहि आसवस्स दन्तस्स पावकम्म न वधई॥"

सन्त प्रतिज्ञा लेता है कि वह अपनी आत्मा की तुलना समग्र प्राणियो के साथ करेगा जिनमे एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी प्राणी शामिल होते हैं। वह सजग रहता है कि जैसे मैं किसी अन्य का प्रहार प्रसन्द नही करता, उसी तरह मैं किसी पर प्रहार नही करूँगा, किसी भी प्राणी की मन, वचन और काया से मैं हिंसा नही करूँगा, न किसी से करवाऊँगा तथा न ही किसी हिंसा करते हुए को भला मानूँगा। इस प्रकार उसे हिंसा का सर्वथा त्याग करना होता है। यही सर्वथा त्याग का क्रम अन्य चारो महाव्रतो—अस्तेय, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य्य एवं अपरिग्रह के साथ भी जुडा हुआ होता है।

सन्त जीवन की ऊँचाइयाँ

पहला महाव्रत अहिंसा का तो दूसरा महाव्रत सत्य का है। तीसरा क्रम है अचौर्य्य का। चोरी के सर्वथा त्याग का अर्थ उसके सूक्ष्म रूपो के त्याग तक भी पहुँचना चाहिये। सपूर्ण ब्रह्मचर्य्य की दृष्टि से सन्त ससार की समस्त स्त्रियो को माता व वहिन के रूप मे देखता है। वह पूर्ण रूप से परिग्रह का भी त्याग करता है। परिग्रह का अर्थ सिर्फ पदार्थों से ही नही लिया जाय वल्कि उनके लिये वनने वाली ममता को भी परिग्रह कहा गया है। सन्त परिग्रह के नाम पर अपना कुछ नही रखता तो ममत्त्व का भाव भी पूरे तौर पर त्याग देता है। ऐसा उसका सम्पूर्ण अपरिग्रही स्वरूप होता है।

ये पाँच महाव्रत जीवन पर्यन्त उसके साधुत्त्व के मूल अग वने रहते हैं। शरीर की पाँचो इन्द्रियो की तरह उसकी आत्मा की ये पांच अतीन्द्रियाँ वन जाती हैं। इन महाव्रतो की सम्यक्प्रकारेण पालना करते हुए सन्त-आत्मा जहाँ भी गमन करती है, अपने भीतर परमात्म-तत्त्व के उल्लास की गगा प्रवाहित करती हुई चलती है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना उसकी प्रकाश-रेखा वन जाती है। अपने सयमी जीवन की रक्षा के लिये वह गृहस्थो के यहाँ से भिक्षा लाता है किन्तु उसमे भी दोषो को टालकर उसका लक्ष्य यही रहता है कि भिक्षा का उपयोग महाव्रतो की सुरक्षा की सीमा तक ही किया जाता है, शरीर पोषण का भाव उसमे कर्तई न हो। छः काया के जीवो की रक्षा की अवस्था मे ही वह उस भिक्षा को ग्रहण करता है। निर्दोष

भिक्षा मिले तो ठीक, वरना वह अनशन कर लेगा किन्तु सदोष भिक्षा कभी नही लेगा। यही कारण है कि संयम पालन को दुधारी तलवार पर चलने के समान कठिन माना है।

छः अणगार और देविका रानी

अरिष्टनेमि प्रभु के पास दीक्षित ऐसे वे छ भ्राता-सन्त जब द्वारिका नगरी मे प्रवेश करते है तो दो-दो का सिंघाडा बना लेते है। पहले दो मुनियो का सिघाडा भिक्षार्थ त्रिभुवन अधिपति वासुदेव महाराज के निवास स्थान मे घुसता है तो देविका रानी अति उल्लास के साथ उन्हे प्रासुक् आहार बहराती है। वे चले जाते है, तब दूसरा सिंघाडा वही प्रवेश करता है तथा उसे भी किंचित् आश्चर्य के साथ देविका संयम जीवन के पालन की दृष्टि से प्रासुक् आहार बहराती है, किन्तु संयोग से बाद मे तीसरे सिंघाडे के भी वही आने का प्रसंग बन जाता है। देविका रानी सन्त जीवन के प्रति परम आस्थावान् थी किन्तु उनकी आस्था अन्धी नही थी। भोजन का उनके लिये कोई प्रश्न नही था किन्तु एक-सी ही छ हो भ्राताओ की आकृति होने के कारण वे असमजस मे गिर गई कि ये दो मुनि तीसरी बार एक ही स्थान पर भिक्षा लेने कैसे आ गये है? क्या सयम रक्षा से हटकर ये स्वाद लोलुपता के दोष मे वह गये है?

शास्त्रो मे देविका रानी की इस प्रबुद्धता के प्रमाण मे प्रश्नोत्तर का उल्लेख है, जिसके जरिये उन्होने अपने सन्देह निवारण या कि साधु जीवन के सशोधन का प्रयास करने का विचार किया। यह उल्लेख अन्तगढ सूत्र मे ही है। उन्होने तीसरे सिंघाडे से प्रश्न किया कि क्या इस विशाल द्वारिका नगरी मे अन्य दातारो के घर लुप्त हो गये हैं कि आप एक ही घर मे भिक्षा हेतु पुन -पुन प्रवेश कर रहे हैं? यह प्रश्न एक श्राविका ने सन्तो से किया था और यह उसका जागृत प्रश्न था। सन्तो के जीवन पर नियन्त्रण रखने का उत्तरदायित्व श्रावक-श्राविका वर्ग पर भी है, जिन्हे सूत्रो मे साधु का "अम्मा पियरो" अर्थात् माता-पिता बताया गया है। यदि श्रावक-श्राविका वर्ग अपने मोह, अज्ञान अथवा असावधानी से साधु जीवन को सम्हाले नही तो सन्त जीवन की विकृति की जिम्मेदारी उन पर भी आती है।

आचार के साथ नर्मी न रखें

आचाराग सूत्र मे साधु जीवन की मर्यादाओ का विशद वर्णन है। आचार की उन मर्यादाओ से साधु तनिक भी नही डिगे—इसकी वडी जिम्मेदारी श्रावक श्राविका वर्ग पर शास्त्रो ने रखी है। आज मेरे कई भाई कभी-कभी जमाने के प्रवाह मे वहते हुए हमे राय देने लग जाते हैं कि विज्ञान के साधनो का साधु भी खुला उपयोग करें तो सुविधा जनक रहेगा। वे जमाने के साथ चलने का आग्रह करते है। ऐसा आग्रह करते हुए वे यह नहीं सोचते कि जब बांध की पाल का एक ही कण नीचे गिरता है

तो उसमे आशका बन जाती है कि एक-एक कण गिरते हुए एक दिन समूची दीवार टूट जायगी और बांध फूट जायगा।

जैन दर्शन ने साधु जीवन को चारो ओर से इस तरह बांधा है कि उसके पतित होने के अवसर न रहें। एक मर्यादा चाहे वह छोटी ही हो, जब टूटती है तो सारी मर्यादाओ के ढांचे के गिरने मे अधिक समय नही लगेगा। आज कोई लाउडस्पीकर के उपयोग की सलाह दे तो कल साधु के रुग्ण एव दुर्बल होने पर मोटर या रेलगाडी मे सवार होने की भी सलाह दे सकता है। फिर सुविधाएं तो बहुत हैं, उनका भी उपयोग क्या नही किया जाय। जब बांध फूटता है तब दुनिया को दीखता है, उससे पहले गहराई उसे समझ मे नही आती। फिर तो शरीर रक्षा का भाव प्रमुख हो जायगा और सयम के आधार पर आत्मा-रक्षा गौण बन जायगी। इसीलिये श्रावक-श्राविका वर्ग को अपनी मर्यादाओ से तनिक भी हटने के वक्त साधु को कडी चेतावनी दे देनी चाहिये। उसके जीवन की विकृति के साथ नर्मी नही बरतनी चाहिये। यह नर्मी या मोह ही साधु-जीवन को बिगाडने वाला साबित हो सकता है। इसी कारण देविका रानी ने वह कडा प्रश्न तीसरे सिंघाडे के दोनो मुनियो से पूछ ही लिया।

श्रावक जीवन भी कहाँ है ?

मुनियो के उत्तर को बताने से पहले मैं आपसे अपने श्रावक जीवन पर भी एक दृष्टिपात करने का आग्रह करूँगा। आज की दुनिया मे 'बनिया' शब्द को बडी हिकारत के साथ समझा जाता है, उसका कारण है कि व्यापार मे आप व्यापारियो की जो पद्धति है वह अमर्यादा और अनैतिकता की ओर बढ रही है। लोकोपवाद बन रहा है कि गरीब का खून चूसने वाला बनिया है। क्या वह मुँह लगाकर गरीब की नस से खून चूस रहा है ? यह तो आलकारिक भाषा है, किन्तु जब कोई अपनी ही स्वार्थ पूर्ति को सबसे ऊपर मानने लग जाय और उसके लिये कैसा भी जघन्य कर्म करने मे सकोच न करे तो वैसे अमर्यादित जीवन के लिये आखिर क्या कहा जायगा ?

श्रावक मर्यादित होगा तो वह साधु-जीवन की मर्यादाओं को भी बांध कर रख सकेगा। उसे साधु का माता-पिता कहा गया है तो यह क्या स्वय के आचरण की दृष्टि से कम जिम्मेदारी है ? दोनों के जीवन की शुद्धता किसी रूप मे परस्पराधारित है। प्रयास दोनो ओर होना चाहिये। सोचें कि एक कांच की हांडी मे एक दीपक रखा हुआ है जिसके प्रकाश से ही हांडी प्रकाशित हो रही है। जब कोई उस हांडी की रक्षा का तो ख्याल रखे किन्तु दीपक का तैल नीचे गिरता जाय और उससे वह बुझने की स्थिति मे पहुँचने लगे फिर भी उसे दीपक का कोई ख्याल नही हो तो ऐसे पुरुष को आप क्या कहेंगे ? साधु जीवन को कांच की हांडी की उपमा दी है तो पच-महाव्रत रूप दीपक है। अब बाहर के वेश की रक्षा की जाय या दीपक के प्रकाश को

तथा उस रक्षा के लिये श्रावक वर्ग को भी कैसी क्षमता बनानी होगी—यह आप लोगो के लिये विचारणीय है ।

देविका रानी आश्चर्य चकित रह गई

तीसरे सिंघाडे के मुनियो ने देविका रानी का समाधान किया कि छ हो भ्राता मुनियो की आकृति एक सी होने से उन्हे भ्रम हो गया है, वरना कोई भी मुनि उनके यहाँ भिक्षा हेतु एक से दूसरी बार नही आया है । यह सुनकर देविका रानी को अपने बचपन की एक घटना याद हो आई, जब उनकी भौजई ने एक मुनिराज को तिरस्कृत किया था तब उन मुनिराज ने देविका के लिये कहा था कि वह एक अद्वितीय माता होगी । इस घटना के साथ छ हो मुनियो की आकृति का स्मरण करते हुए अन्तरग भावनाओ की तीव्रता के कारण रानी को अपने पूर्व जन्म का नक्शा दिखाई दिया । वह सोचने लगी कि किस धन्यनामा माता ने ऐसे स्वरूपवान् लालो को जन्म दिया और उन्हे एक साथ अरिष्टनेमि भगवान् के चरणो मे सौप दिया ? वह यह जानने के लिये उत्मुक हो उठी तो जिज्ञासावश अरिष्टनेमि प्रभु के पास ही पहुँच गई ।

उस समय देविका रानी के आश्चर्य का कोई ठिकाना नही रहा, जव पूछने पर प्रभु ने कहा है कि छ हो लाल तो उसी के पुत्र हैं । उसके बाद देविका की भावनाओ की परिणति के सम्बन्ध मे काफी विस्तार से वर्णन आया है, किन्तु यहाँ तो इसे मैं इस संदर्भ मे सुना रहा हूँ कि प्रभु ने यह भी बताया कि ये छःहो मुनि अपने चरम आवर्त मे पहुँच गये हैं । इस चक्कर के बाद उनके चक्कर खत्म है, अर्थात् इस जन्म मे ही वे मुक्तिगामी हो जायेंगे ।

भव-चक्र से छुटकारा कैसे ?

वे महापुरुष तो मुक्तिगामी हो गये, पर अव तो प्रश्न यह है कि हम इस भव-चक्र से छुटकारा कैसे और कव पा सकेंगे ? जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है कि जन्म-मरण के आवर्त को आखिरी वनाना है तो उसका प्रमुख साधन सन्त जीवन ही है । यह सन्त-जीवन ऐसा नही हो कि वाहर से रंग-ढंग तो सन्त का दीखे तथा अन्दर मे विकृतियाँ घर कर जाएँ । साधु-जीवन की रक्षा मे श्रावको का वडा दायित्त्व है और हर कदम पर मूल मे इसका ध्यान रखना चाहिये कि साधु-जीवन के प्रति उनका व्यवहार उनके पच महाव्रत की सुरक्षा के रूप मे उचित हो ।

मेरे भाई-वहिन मेरे नाम का गुणगान करते है, इससे मुझे वहुत सकोच होता है । मैं सोचता हूँ कि यह गुणगान करके मेरे साधु-जीवन की सुरक्षा कर रहे हैं या मेरे साधु जीवन के अन्दर हल्का सा खून का रग लगाने की चेष्टा कर रहे है । आत्मा

जागृत रहे तब तो कुछ नही, पर कभी अहमन्यता का भाव आ जाए तो साधु जीवन मे घुन लगता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि आपका प्रत्येक आचरण ऐसा होना चाहिये जिससे साधु अपने मर्यादित जीवन के प्रति निरतर सतर्क बना रहे।

प्रत्येक भव्य आत्मा का यही लक्ष्य होना चाहिये कि उसकी साधना के बल पर वह अनादि काल के जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होवे। यह मुक्ति तभी होगी जब आत्मा चरम आवर्त मे पहुंच जायगी। प्रभु की सेवा की परिपक्व भूमिका का अवसर भी अवश्य आ जायगा।

लाल भवन
६-६-७२



कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना

"दोष टले वलि दृष्टि खुले रे........ . ."

जीवन की समस्त घडियाँ मगलमय प्रसंग के साथ व्यतीत हो—यह भावना प्रत्येक मानव के मस्तिष्क मे प्रायः चला करती है। वास्तविक स्थायी मगल तो प्रभु का स्मरण ही है। जहाँ आत्म-कल्याण की प्रशस्त भूमिका पर आरूढ होने का यत्न करना हो, वहाँ तीर्थङ्करो का नाम-स्मरण करना नितान्त आवश्यक है। उनकी बदौलत ही आज इस विचित्र विश्व मे शान्ति का मार्ग दृष्टिगत हो रहा है। यदि वीतराग देवो ने अपने दिव्य अनुभवो के आधार पर अपने केवल-ज्ञानजन्य ज्ञान का बोध ससार को नही कराया होता और उपदेश रूप उनकी पवित्र वाणी परम्परा से हमारे सामने नही होती तो विषमताओ से भरे इस वर्तमान विषमतम युग मे शान्ति का प्रकाश क्या कही नजर मे आता ?

भगवान् सभवनाथ की प्रार्थना जब हम कर रहे है तो यही सत्य हमारे मन और मस्तिष्क मे रहना चाहिये कि उनकी पवित्र वाणी हमारे आत्म-विकास का पथ-प्रदर्शन करती रहे। यह अवश्य ही विचारणीय स्थिति है कि तीर्थङ्करो की उद्बोधक वाणी को सुनते-सुनते भी उस राह पर आगे बढने के लिये वास्तव मे अधिक चरण नही उठते। इस जागरणहीनता के पीछे ऐसा महसूस होता है कि आज के लोगो मे अधिकाशत कर्त्तव्यनिष्ठा का अभाव है। हमे क्या करना चाहिये—विवेक के जब इस साधारण धरातल पर भी जीवन नही चले तो कर्त्तव्य-भावना जन्म ही कैसे लेगी ? इस स्थिति को ठीक से समझने के लिये प्रभु सभवनाथ की प्रार्थना का अर्थ-अनुसन्धान ही हम भली प्रकार कर सकें तो विकृति के अन्धकार मे विकास के प्रकाश की किरणें जगमगा उठेगी।

दोष-दर्शन एवं परिमार्जन

प्रभु की प्रार्थना का सीधा प्रभाव यही होना चाहिये कि जीवन की आन्तरिक स्थिति के विश्लेषण की दिशा मे हमारी वृत्ति सजग हो। पृष्ठ-भूमि के निर्माण के

प्रसग मे यदि भय, द्वेष और खेद दशाओ की क्षीणता आती है तो उसका प्रतिफल यह होगा कि स्वय के दोषो को देखने की आदत बनेगी। ससार मे दूसरो के दोष देखने की प्रवृत्ति तो बहुत मिलती है किन्तु महानता उसी को वरण करती है जो दूसरो के गुण और स्वय के दोष देखे।

दोष-दर्शन की इस मनोवृत्ति से अन्तर के परिणामो की उत्कृष्टता बढती जायगी और उसके साथ ही उन दोषो को दूर करने एव उनके स्थान पर सद्गुणो को ग्रहण करने की आकाक्षा तीव्र हो जाएगी। यह परिमार्जन तब जीवन विकास का मूल बन जायगा। निरन्तर अपने दोष देखते रहने की जागृति बन जाय तो यह जागृति भी निश्चित रूप से बन जायगी कि अपना दोष दिखाई देते ही उसे परिमार्जित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया जाय। परिमार्जन ही पवित्रता का वाहक बनता है। आत्मिक पवित्रता की वृद्धि के परिणाम स्वरूप चरम आवर्त या चरम-करण का प्रसग बन जाए तो यह कोई आश्चर्य का विषय नही होगा।

दोष-दर्शन एव परिमार्जन के रूप मे वस्तुत दृष्टि ही बदल जाती है। पहले जिन सासारिक कामनाओ की नजर से वस्तुस्वरूप को परखा जाता था, तो उसमे भय, द्वेष और खेद की वृत्तियो के कारण स्वार्थ, स्वरक्षा और प्रतिशोध के भावो को पहले पकडा जाता था—उसमे उदारचित्तता का अभाव होता था। किन्तु परिवर्तन के बाद दृष्टि-भेद यह हो जाता है कि वह अपने स्वार्थ की बजाय, दूसरो को किसी भी प्रकार कष्टित करने वाले अपने दोषो को पहले देखता है तथा देखता ही नही, उन्हे सुधार कर अपने व्यवहार को दूसरो के प्रति ज्यादा से ज्यादा उदार एवं सहयोगी बनाता है। उदारता से त्याग और सहयोग से सदाचरण का प्रसार होता है।

दोष टले दृष्टि खुले

अपने ही अन्तर मे झाककर जिस आत्मा को अपने ही दोषो को चुन-चुनकर जानने और उन्हे परिमार्जित करने का अभ्यास हो जाता है, उसे दो लाभ होते है। पहला तो यह कि उन दोषो के फलस्वरूप आने वाली विकृति से तथा भविष्य मे उन दोषो के फिर पैदा हो जाने की आशका से वह आत्मा बच जाती है। दूसरे, अपने ही स्वार्थो के घेरे मे घूमने के कारण जो सकुचित दृष्टि बन जाती है, वह दृष्टि इस अभ्यास से खुलकर उदार एवं विस्तृत हो जाती है। अन्दर के दोषो को परिमार्जित कर लेने के बाद खुली और भली—दोनो प्रकार से दृष्टि का विकास होता है।

किसी भी स्थल पर दोष को यदि दोष के रूप मे ही देख लिया जाय तो उस दोष का विस्तार तो वही रुक जायगा, बल्कि दोष फिर टिकेगा भी नही। जैसे किसी

मकान मे चोर प्रवेश कर रहा है और चोरी करने के लिये तत्पर हो रहा है, उस समय उसे देखकर यदि मकान मालिक चोर को सम्बोधित करके कहे कि तुम चोर हो, चोरी करने के लिये आये हो किन्तु मैं तो जगा हुआ हूँ, अब देखें, कर लो चोरी—तो क्या वह चोर फिर चोरी करने का साहस कर सकेगा ? इस प्रसग को अपने जीवन के साथ घटाएँ कि जब दोष रूपी चोर उसमे प्रवेश कर रहे हो और सद्गुण रूपी धन को चुराने वाले हो, किन्तु उस समय यदि गृहस्वामी कि आत्मा जागृत हो तो क्या दोप वहाँ टिके रह सकेंगे ? यह आत्मा जिस शरीर के घेरे मे जिन कार्यों के साथ, जिन दोपो के समूह मे अपने अपूर्व पराक्रम को लेकर बैठी है, वह जब प्रारम्भ ही मे दोपो को पहिचान ले तो क्या उन तस्करो के सामने आत्मा कायर बनी बैठी रह सकेगी ?

सही वस्तुस्थिति तो यह है कि परिमार्जन के कारण आत्मा की दृष्टि खुल जाती है—वह पूर्णतया सजग बन जाती है। जगे हुए आदमी को कौन लूट सकता है ? लुटता तो नीद मे सोने वाला है जिसकी आँखें बन्द रहती है। आत्मा की यह सावधान अवस्था उसे उन्नति की ऊँची-ऊँची सीढियां आसानी से चढवा देती है।

जागृत चेतना से सतत गति

जब जागृत चेतना इस प्रकार आत्मिक स्वरूप मे व्याप्त हो जाय तो आत्मा की गतिशीलता शुरू ही नही होती, अपितु प्रगतिशील हो जाती है। उस चेतना के अस्तित्व मे काम, क्रोध, भय, द्वेपादि विकारी तत्त्व स्वतः ही उपशम और क्षय होते चले जाते हैं। आत्मा की शक्ति को दबाने या नष्ट करने की क्षमता तब दोषो मे नही रहती और पहले का संचित कर्म समूह भी क्षीण होकर कटने लगता है। खुली और भली दृष्टि से यदि इन पर्यूषण के दिनो मे धर्माराधन किया जाय तो स्मरण रखें, सोने मे सुहागा मिल जायगा। जागृत चेतना इससे अति जागृत हो जायगी और प्रगति का वेग तीव्रतर बन जायगा।

अनादि काल से भव-भ्रमण करती हुई आत्मा मे अब तक दोप दर्शन एवं परिमार्जन की वृत्ति वास्तविक रूप मे नही बनी, इसी कारण सही रूप मे उसकी विकास गति का श्रीगणेश भी नही हो सका है। मुँह से भले ही दोपो का कथन किया हो, इस मस्तिष्क ने भले ही कभी कुछ चिन्तन कर लिया हो, लेकिन अन्त करण से दोपो को देखने और सुधारने की जागृति का अवसर आत्मा को नही मिला। यह आत्मा तीर्थंकरो के सहवास में भी रही होगी, किन्तु पृष्ठभूमि के निर्माण के अभाव मे ऐसी वृत्ति अभी तक जागृत नही हो सकी। जागृति नही तो फिर गति कैसे बन सकती है ?

कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना

जब किसी की दृष्टि बाहर कम और भीतर अधिक घूमती हो, बल्कि सतत जागृत रहती हो तो उस दृष्टि का मीठा फल यह मिलेगा कि उसके अन्तर्मन मे कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना सर्वोपरि बन जायगी। अपनी आत्मा का दोष देखना है—इसका अभिप्राय ही यह है कि उसे अपने सभी प्रकार के कर्त्तव्यो के प्रति सतर्कता बरतनी है।

हम अपने कर्त्तव्य को भूलते हैं और यथासमय अपने करणीय कार्य को नही कर पाते हैं, वही तो दोषो को आत्मा मे बुलाने और इकट्ठे करने का खुला आमन्त्रण होता है। कर्त्तव्य को भूलने का अर्थ ही दृष्टि का बन्द होना माना जायगा। कर्त्तव्य-हीनता स्वय सबसे बडा दोष होता है। कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना को बनाने और बनाये रखने के लिये आत्मा की सतत जागृति एक अनिवार्य शर्त है। जब-जब आत्मा को अपने कई जन्मो मे महान् विभूतियो का ससर्ग मिला, उपदेशामृत का पान भी किया किन्तु उसमे तब-तब कर्त्तव्य बुद्धि के जागृत नही होने मे वह अपना उद्धार नही कर सकी। वैसी अवस्थाओ मे यदि यह एक वक्त भी अपनी दृष्टि खोल देती और जाग जाती तो आज ऐसी दुरावस्था उसकी नही दिखाई देती।

पहले की कर्त्तव्यहीनता का तो जो परिणाम बनना था, वह बन चुका, लेकिन अब भी अवसर है—मानव जन्म मिला है तो कर्त्तव्यनिष्ठा को जगा कर आप अपने ही जीवन को नही—किन्तु परिवार, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व के जीवन मे एक आनन्ददायक परिवर्तन ला सकते हैं।

कर्त्तव्य-बुद्धि का मूल

जो हमको करना है, वह पहले है और जो हमको पाना है, वह बाद की बात है—इस रूप मे कर्त्तव्य और अधिकार की तुलना की जा सकती है। कर्त्तव्य-बुद्धि का मूल आत्मिक चेतना के धरातल पर ही आरोपित और परिपोषित होता है। यदि दृष्टि खुली हुई है, अन्तर्वृत्तियाँ सजग हैं तो वह व्यक्ति कभी भी कर्त्तव्यहीन नही हो सकता है। किसके प्रति क्या करना है—इसका उस व्यक्ति को प्रतिपल ध्यान रहेगा। कर्तव्य ज्ञान का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जिस क्षेत्र, स्थान अथवा समय मे कार्य करता हो, वहाँ पहले वह इस बात के लिये सतर्क हो कि उसे किसके प्रति क्या करना है—उसका कर्त्तव्य क्या है?

कर्त्तव्यों के विभिन्न सम्बन्धो की दृष्टि से कई प्रकार हो सकते हैं किन्तु बुद्धि मूल मे यदि सजग है तो वह व्यक्ति कर्त्तव्य-विस्मृत नही हो सकेगा। कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति जहाँ भी होगा, वह अपनी दृष्टि को खुली और भली बनाये रखेगा। कदाचित् उसको गृहस्थी मे कार्य करना पड रहा हो तब वह तत्सम्बन्धी अपने कर्त्तव्यो को पूरा करेगा

किन्तु उस समय मे भी वह आत्मा के प्रति अपनी सजगता के कर्त्तव्य से विमुख नही बनेगा। ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ का असर भी प्रभावोत्पादक होता है। जैसे मिष्ट पदार्थ के अणु-अणु मे मिष्टता समाई रहती है अथवा खिले हुए पुष्प के कण-कण मे सुवास भरी और बिखरती रहती है, उसी प्रकार कर्त्तव्य-बुद्धि का सुप्रभाव अनायास ही विस्तृत से विस्तृत क्षेत्रो मे व्यापक बनता जाता है।

इसका यह कारण भी है कि एक कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के सामने कैसी भी विषमतम परिस्थितियाँ क्यो न उपस्थित हो जाएँ—सकटो की बिजलियाँ क्यो न कडक कर टूट जाएँ, वह अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा को कदापि तिलाजलि नही देता है। वह हर समय हर हालत मे निष्ठा के साथ चलता है और उसका परिणाम अलौकिक रूप मे प्रकट होता ही है। अन्तगढ सूत्र के प्रसग आप सुन रहे है—गजसुकमाल मुनि की कर्त्तव्यनिष्ठा कितनी अनुपम और प्रेरणाप्रदायक थी? गजसुकमाल मुनि की जानकारी के लिये ही तो श्रीकृष्ण वासुदेव ने तेला किया था और तब से तेला करना अति महत्वपूर्ण माना जाने लगा है।

कर्त्तव्यनिष्ठा गृहस्थो की

यह तेले की तपस्या श्रीकृष्ण के तेले से महत्त्वपूर्ण तो बन गई, मगर श्रीकृष्ण ने वह तेला कोई आत्म-कल्याण अथवा मन शुद्धि के लिये तो किया नही था। वह तेला तो गृहस्थाश्रम के प्रयोजन से किया गया था, किन्तु उसमे कर्त्तव्यनिष्ठा का भाव ही भरा हुआ था। इस कारण तेले की तपस्या प्राभाविक बन गई।

गृहस्थ भी धर्म का अनुगामी होता है और इसलिये उसके धर्म को गृहस्थ-धर्म कहा गया है। इस गृहस्थ धर्म मे भी कर्त्तव्यनिष्ठा का स्थान सर्वोपरि ही है। श्रीकृष्ण त्रिखंडाधिपति थे, अतुलनीय सत्ता और सम्पत्ति के स्वामी थे तथा विशाल साम्राज्य के संचालन मे व्यस्त रहते थे—ऐसी स्थिति मे क्या छोटे-मोटे कामो का उन्हे खयाल भी रह सकता है? किन्तु ऐसा खयाल भी एक कर्त्तव्यनिष्ठ को बराबर रहता है। विशाल साम्राज्य के साथ उनका घर भी था और उस गृहस्थी मे किस-किस के प्रति उनका क्या कर्त्तव्य है—इसका भान उन्हे था। ऊँचे से ऊँचे पद पर बैठकर भी उन्हे अपना छोटा से छोटा कर्त्तव्य भी बराबर दिखाई देता था।

श्रीकृष्ण प्रातःकाल सदा अपनी माता देविका का चरण वन्दन किया करते थे। त्रिखडाधिपति बन गये हैं तो माता को भूल जायँ—उसके सम्मान को भूल जायँ—ऐसा उनके आचरण मे नही था। उस दिन की बात है कि जब वे माता को नमस्कार करने के लिये उनके पास पहुँचे, तो उन्हे यह महसूस हुआ कि माता आज उदास है। माता के प्रति कर्त्तव्य बुद्धि उनके मन मे सजग थी और कर्त्तव्यनिष्ठा के संस्कार पुष्ट थे। देविका उस समय वास्तव मे चिन्तित थी और उनकी चिन्ता यही

थी कि ऐसे छ छ दिव्य पुत्रो को उन्होने जन्म दिया किन्तु उनका लालन-पालन वह नही कर सकी—उनके सस्कार निर्माण की दृष्टि से उनका कोई प्रयास सम्भव नही बना।

स्वर्गीय आचार्य श्री जी देविका रानी की इस चिन्ता को इन कडियो मे व्यक्त करते थे—

इम झुरे देविका रानी
या तो पुत्र बिना विलखानी ···आदि

उनकी इस चिन्ता के समय श्रीकृष्ण पहुंच गये तो उन्होने माता की चिन्ता का कारण पूछ ही लिया।

वर्तमान दयनीय दशा

आपको मैं देविका रानी व श्रीकृष्ण की कर्त्तव्यनिष्ठा की कहानी मे आगे ले जाऊँ—उससे पहले गृहस्थो मे होने लायक कर्त्तव्यनिष्ठा की वर्तमान दयनीय दशा का कुछ चित्र प्रस्तुत करना चाहूंगा।

आज के गृहस्थो के पास श्रीकृष्ण जितनी सत्ता और सम्पत्ति तो नही है न, बल्कि बहुत ही कम मात्रा मे किन्ही-किन्ही के पास होगी, फिर भी जरा सी सत्ता या सम्पत्ति पाते ही उनमे जिस मात्रा मे अभिमान बढ जाता है, उसका कोई हिसाब नही। और यह अभिमान भी चन्द चांदी के टुकडो पर इस कदर बढ जाता है कि कर्त्तव्यनिष्ठा तो उनमे कतई समाप्त ही हो जाती है। छोटे-मोटो के साथ व्यवहार रखने की बात तो छोडिये, वे अपनी जन्मदातृ माता के चरणो मे झुकने मे भी अपनी हेठी मानने लग जाते हैं। मैं आप लोगो से ही पूछूँ कि आप मे से कितनो ने नियम ले रखा है कि प्रात काल नित्य प्रति जननी के चरणो मे नतमस्तक होकर उनका सहज आशीर्वाद प्राप्त करना। इसी तरह कॉलेज की डिग्रियाँ प्राप्त करने वाले और ऊँची सरकारी पोस्टो पर बैठने वाले भी यह समझ बैठते है कि वे तो बहुत ऊँचे हो गये हैं एव अपनी सामान्य कर्त्तव्यनिष्ठा को भी अभिमानवश छोड देते हैं। वे अपने माता-पिता तक को कुछ नही समझने लगते हैं।

कहाँ तो सन्तान का अपने माता-पिता के प्रति विनम्र और आज्ञाभग कर्त्तव्य होना है और कहाँ वर्तमान समय मे कुछ सत्ता-सम्पत्ति अथवा पद-प्रतिष्ठा मिलने ही सन्तान अपने माता-पिता की भयकर अवज्ञा करने पर उतारू हो जाती है? उस अभिमानी अफसर की कहानी तो आपने सुनी होगी जिन्होंने अफसरो के बीच बैठे होने से अपने किसान पिता के आने पर उनका परिचय अंग्रेजी मे नौकर के रूप मे दे दिया और तब किसान पिता ने अपने अभिमानी बेटे पर वही जूते बरसा कर उसकी अकल दुरुस्त की। माता-पिता और सन्तान तक के बीच मे आज के युग मे जिस प्रकार कर्त्तव्यनिष्ठा का अभाव दिखाई दे रहा है, यह स्थिति वास्तव मे अतीव सोचनीय है।

माता-पिता और सन्तान के परस्पर कर्त्तव्य

देविका रानी को जिस मुख्य बात का सन्ताप हुआ, वह यह थी कि वह उन छः पुत्रो को जन्म देकर भी उनके साथ अपने मातृत्व के कर्त्तव्यो का निर्वाह नही कर सकी। वह कर्त्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से ही झूर रही थी कि यदि वे छःहो पुत्र उसकी गोदी मे खेलते और बडे होते तो वह भी उनके उच्च सस्कारो के निर्माण की भागीदार हुई होती। क्या आज माताओ को सन्तान के प्रति अपने इस मूल कर्त्तव्य का भान है कि उन्हे प्रारम्भ से ही अपने बालक-बालिकाओ को जीवन निर्माण की कला सिखानी चाहिये। माता का इतना ही कर्त्तव्य नही है कि वह शरीर के लोथडे के रूप मे केवल सन्तान को जन्म ही दे दे, बल्कि उसके शरीर-गठन के सिवाय श्रेष्ठ सस्कारो एव पवित्र भावनाओ की अमिट छाप भी उसके मन एव मस्तिष्क पर डालने का उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है।

माता-पिता का ही प्रमुख प्रभाव होता है कि सन्तान का आन्तरिक सस्कारो से ओत-प्रोत आदर्श जीवन बन पाता है। ऐसी एक ही सन्तान हो, तब भी वह परम हितकर होती है, लेकिन माता-पिता अपने मजे मे डूबे रहे और सन्तान की शिक्षा-दीक्षा के प्रति बेभान रहे तो वैसी कई सन्तानें भी उन्हे शान्ति नही पहुँचा सकती है।

इसी सिक्के का दूसरा पहलू भी उतना ही चिन्तनीय है। लडके कुछ पढकर या व्यवसाय मे जम कर योग्य हो जाते हैं और कुछ सम्पत्ति का सचय कर लेते है तो अपने आप को कुछ का कुछ समझने लग जाते हैं और माता-पिता की तनिक भी परवाह नही करते। उनको माता-पिता के प्रति अपने सामान्य से कर्त्तव्यो का भी ख्याल नही रहता। मेरे अनुभव की ही एक बात सुनाऊँ कि एक स्थान पर मैं पहुँचा तो लकडी के सहारे बडी कठिनाई से चलकर एक वृद्धा वन्दन करने आई, तब उसने बडे करुण स्वर मे कहा—महाराज! क्या कहूँ, मैं बहुत दुःखी हूँ। मैंने उत्सुकता वश पूछा—क्या हुआ माजी, आपको? वृद्धा बोली—मेरी सेवा करने वाला कोई नही है, महाराज! बाद मे खोज करने पर पता चला कि उस वृद्धा के चार नौजवान व कमाऊ पुत्र हैं किन्तु सभी अपनी-अपनी पत्नियो के साथ अलग-अलग रहते हैं और वृद्धा माता की तरफ कोई देखता भी नही। यह संसार की बडी विचित्र स्थिति है।

आज का इन्सान बडी-बडी डींगें मारता है, मगर छोटे-छोटे कर्त्तव्यो को भी भुला देता है। बहुतेरे भाई-बहिन लम्बे-चौडे ज्ञान की चर्चा कर लेंगे, तेला, चोला व मासखमण तक की तपस्या कर लेंगे किन्तु परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व के प्रति अपने सामान्य कर्त्तव्यो का भी ध्यान नही रखेंगे—यह कितनी विषम स्थिति है? ऐसा संभव है कि कई भाई-बहिन तेला करके लालसा रखते होंगे कि जैसे श्रीकृष्ण के तेला

करने पर देव आया था, वैसे हमको भी देव दर्शन दे और हमारा मनोरथ पूरा करें, किन्तु ऐसी लालसा के पहले श्रीकृष्ण की कर्त्तव्यनिष्ठा का शतांश तो अपने अन्दर पैदा कीजिये।

एक माता · हजार शिक्षक

कहावत है कि एक माता की शिक्षा बच्चे के लिये हजार शिक्षकों के बराबर होती है। माता कर्त्तव्यनिष्ठ रही तो यह बहुत कम होगा कि उसकी सन्तान कर्त्तव्यनिष्ठ न बने, क्योंकि बचपन में डाले गये संस्कारों का पूरे जीवन तक अमिट असर बना हुआ रहता है। वीर क्षत्राणियाँ पालने में जब अपनी सन्तान को वीररस की लोरियाँ सुनाया करती थीं तो उस रूप में संस्कारित उनकी वीर सन्तान भी ऐसी होती थी कि केसरिया बाना धारण करके जब वे युद्ध-क्षेत्र में कूदा करते थे तो सिर कट जाने पर भी उनका धड़ घण्टों तक तलवार घुमाता रहता था। इसको जुंझारू कहते थे। वैसी वीरता की भावना जगाने वाली और बालक में शौर्य के अपूर्व संस्कार भरने वाली लोरी की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

> बालो, पालना बाहर आयो, माता वैण सुणावे यूं।
> म्हारा धोला दूध मे कायरता को कालो दाग न लाइजे थूं,
> उतरी पेर हिलाइजे रे धरती, जितरा मैं थने खोटा घूं।

कहने का अभिप्राय यह है कि बालक में कर्त्तव्यनिष्ठा की शिक्षा माता के दूध से ही प्रारम्भ होनी चाहिये। चरित्रशील व्यक्तित्व के निर्माण की आधारशिला यहीं रखी जाती है। संसार और धर्म—दोनों क्षेत्रों में देदीप्यमान जीवन की सृष्टि करने वाली सर्वप्रथम भूमिका में माता ही होती है। प्राचीन काल में माताएँ अपनी सन्तान को कहती थीं—

> "निर्दोषसि बुद्धोसि निरंजनोऽसि · ·   "

और वह सन्तान वास्तव में राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बन जाती थी। मदालसा महारानी एक आदर्श माता के रूप में विख्यात है जिसने हर्षपूर्वक अपने सातों पुत्रों को दीक्षित बना दिया।

आज की माताओं को इस तत्त्व की ओर ध्यान देना है तथा स्वयं कर्त्तव्यनिष्ठ बनकर अपनी सन्तान में कर्त्तव्यनिष्ठा को जगाना है। आज तो वे स्वयं इतनी अनजान हैं कि बच्चों में शुरू से डर और कायरता के संस्कार भरती हैं जिनसे बड़े होकर वे भ्रष्ट, कर्त्तव्यहीन एवं अनैतिक आचरणों का रूप लेते हैं। ऐसी सन्तान से भला किसका भला हो सकता है?

कर्त्तव्यनिष्ठा से ही महानता

सूत्र मे वर्णन है कि माता की चिन्ता को जानकर देव को बुलाने के निमित्त तेला करने के लिये जब श्रीकृष्ण पौषधशाला मे पहुँचे तो उन्हे माता के प्रति अपने कर्त्तव्य का ही ध्यान था। पौषधशाला को उन्होने अपने ही हाथो से पोंछा, क्योकि नौकर उतना विवेक नही रखता। घास-फूस का सथारा अपने हाथ से बिछाया और तपाराधन मे प्रवृत्त हुए। तेले के फलस्वरूप देव उपस्थित हुआ और उससे उन्होने अपने सहोदर के विषय मे जानकारी ली। आप बडे पद पर और बडे व्यस्त व्यक्ति हो सकते हैं। किन्तु हर छोटे-बडे के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना सीखे तभी वास्तविक महानता आपको मिल सकती है, वरना स्वय के बडा मान लेने से कोई बडा नही हो जाता है।

महानता कर्त्तव्यनिष्ठा से मिलती है। जो अपनी आन्तरिक शक्ति को विकसित करके अपने जीवन को पूरे तौर पर नियमित बना लेते है, उन्हे अपने कर्त्तव्यो का भी पूरा-पूरा ख्याल रहता है तथा ऐसे ही व्यक्ति अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के बल पर लोकप्रिय बन महान् बन जाते है।

आत्मा के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा

यदि कोई अपनी निज की आत्मा के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ बन जाता है तो उसके लिये कहा जा सकता है कि वह चाहे सासारिक क्षेत्र हो अथवा धार्मिक क्षेत्र—सबके प्रति अपने यथोचित कर्त्तव्यो का निर्वाह अवश्य करेगा। आत्मा के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठा का अर्थ है—आत्मा के मूल उज्ज्वल स्वरूप को समझना तथा उसे प्राप्त करने के लिये अहर्निश प्रयत्नशील रहना। आत्मा के प्रति ली गई कर्त्तव्यनिष्ठा ही 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की कर्त्तव्यनिष्ठा से जुडती है।

शास्त्रकारो ने कहा है—"सुत्तेवा जागरमाणे वा ………… " अर्थात् सोते जागते उठते बैठते प्रत्येक क्षण मनुष्य को अपने कर्त्तव्यो के प्रति जागृत रहना चाहिये खुली और भली दृष्टि के साथ जो सदा जागता रहता है, वह निर्मलता एवं उच्चता के अन्तिम बिन्दु तक पहुँचकर ही विश्रान्ति लेता है। इसलिये मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि पर्यूषण पर्व के दिनो मे दोष-दर्शन एवं परिमार्जन का अभ्यास करते हुए कर्त्तव्यनिष्ठ बनने का सकल्प लिया जाएगा तो जीवन जरूर ही मंगलमय बन जायगा।

लाल भवन
७-९-७२



● साधु से परिचय, पर कैसा ?

"परिचय पातिक घातक साधु शू रे ....।"

प्रभु सभवनाथ की प्रार्थना की पक्तियो से नित नया अर्थ ग्रहण किया जा रहा है और वह अर्थ कोई साधारण अर्थ नही है—जीवन को श्रेष्ठतम ऊँचाइयो तक पहुँचा देने वाला गूढ़ अर्थ है। कवि ने इस रचना मे उन्नतिशील भावो को भर दिया है। जब तक इन पक्तियो के रस का दोहन नही हो जाता है, भगवान् सभवनाथ के नाम से जो अमृत मिल रहा है, उसका पान करने मे कृपणता क्यो की जाय ? यही कारण है कि मैं एक ही प्रार्थना को कई दिनो तक बोलता रहता हूँ।

सभव है, कई भाइयो के मस्तिष्क मे विचार पैदा हो सकता है कि पुन पुन भगवान् सभवनाथ की ही प्रार्थना का उच्चारण क्यो किया जाता है ? विषय की दृष्टि से उन्ही परमात्मा का नाम अवश्य है, लेकिन अर्थ के अनुसन्धान की दृष्टि से आपको अनुभूति हो रही होगी कि नित्य प्रति नये-नये अर्थो के विन्यास से आत्मिक बल को जगाने का प्रयास किया जा रहा है। भिन्न-भिन्न कडियो के भिन्न-भिन्न अर्थ भिन्न-भिन्न विधि से भिन्न-भिन्न रूप मे जब ज्ञान-पथ मे आते हैं तो उससे आत्मशक्ति के विकास मे प्रभावशाली योग मिलता है। विविध उपायो से जब तक हम आत्मा के विशिष्ट स्वरूप को गहराई मे समझने का यत्न नही करेंगे, तब तक आत्मा के तेजोमय स्वरूप की अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त नही हो सकेगा।

वैसे तो आप देखें तो हमारे सामने एक ही विषय है—आत्मा अर्थात् कैसे आत्मभावो को शुद्ध बना कर इस जीवन को निर्मल बनाएँ और वह निर्मलता किस प्रकार अपने उच्चतम बिन्दु तक पहुँच कर आत्मा को सदा-सदा के लिये अपने मूल स्वरूप यानि निज स्वरूप मे प्रतिष्ठित कर दे ?

विभिन्न उपाय उद्देश्य एक

आत्म-विकास के मूल एक विषय को लेकर ही हम विभिन्न उपायों एवं विभिन्न विधियों से नित प्रति चिन्तन करने का प्रयास करते हैं। भगवान् श्री संभवनाथ

की प्रार्थना से यही प्रेरणा निकलती है कि यदि इस आत्मा को सभवदेव के तुल्य परमात्मा के रूप मे विकसित करनी है तो इसमे अपूर्व शक्ति का सचार करना होगा। इसमे उपादान रूप तो आत्मा है ही, किन्तु इसके साथ विशिष्ट निमित्तो के संयोग की आवश्यकता होती है। वह विशिष्ट निमित्त यह माना गया है कि आत्मा सयम की शक्ति से सम्पन्न बनकर गुणशाली हो। वर्तमान मे जितना आत्मा का विकास ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की दृष्टि से है, उसमे निरन्तर वृद्धि होकर वह उत्कृष्टतम स्थिति की ओर गतिशील बन जाय। यही एक उद्देश्य प्रत्येक भव्य आत्मा के सामने है और रहना चाहिये।

इस उद्देश्य की पूर्ति मे मुख्य अवलम्बन, निमित्त अथवा सहयोग जिनसे मिल सकता है, वे साधु पुरुप ही हो सकते हैं जिनकी ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य सम्पन्नता सामान्य रूप से अधिक अभिवृद्ध रहती है। सिर्फ ज्ञान की ही अधिकता से आत्मा का विकास आगे नही बढ सकता है। ज्ञान की ही दृष्टि से तो देवो का ज्ञान मानव की अपेक्षा कई गुना अधिक होता है। देव जन्म से ही अवधि ज्ञान लेकर चलते हैं। देवो का मर्यादित ज्ञान भूत, भविष्य और वर्तमान की स्थिति मे आत्म-प्रवेश के साथ अवलोकन करता है। उनकी तुलना मे साधारण मनुष्य का वैसा ज्ञान नही होता है। देव से भी ज्ञान के निमित्त तो प्रेरणा ली ही जा सकती है। किन्तु असम्भव को सम्भव करने का और आत्मा के चरम विकास का जहाँ प्रश्न है, वहाँ ज्ञान के साथ कर्मठ चारित्र्य का सम्बन्ध जुडे विना इस प्रश्न का कोई हल नही है।

रत्न-त्रय की आराधना

देव ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य से विशिष्ट अवश्य होते हैं लेकिन शुद्ध चारित्र्य की दृष्टि से उस ज्ञान के अनुरूप स्वयं के आचरण का प्रसंग उनके साथ नही है। मोक्ष की साधना के लिये रत्न त्रय की आराधना परम आवश्यक है और यह रत्नत्रय है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य। इन तीनो रत्नो को जहाँ एक साथ रखा जा सकता है, वह एक ही मानव जीवन है और इसी कारण इस जीवन को दुर्लभ और उत्तम वताया गया है।

अतएव चारित्र्य की दृष्टि से जो आत्माएँ अपने विकास की चरम सीमा रूप शुद्ध स्वरूप अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छुक होती है, उन्हे अपने समकक्ष से अधिक रत्न त्रय की विशिष्ट आराधक आत्माओ का सम्वल मिलना चाहिये। ये विशिष्ट आराधक उन्नतिकामी आत्माओ के लिये सफल मार्गदर्शक का कार्य करेंगे ताकि उन्नति के मार्ग पर आगे बढते हुए भटकाव की स्थिति नही बने।

सन्तो की सगति अनिवार्य

इस भावना को ध्यान मे रखकर अनिवार्य माना जाना चाहिये कि यह विशिष्ट सम्वल सन्तो की संगति से ही उपलब्ध हो सकता है। सन्तो के सम्पर्क से ही

चरित्र-पालन की दिशा मे अग्रगामिता हो सकेगी। प्रार्थना की पंक्तियो मे यही संकेत है—

परिचय पातिक घातक साधशु रे
अकुशल अपचय चेत।
ग्रन्थ अध्यातम श्रवण मनन करि रे
परिशीलन नय हेत॥
संभव ते धुर सेवो सवे रे।

कहा गया है कि साधु के साथ परिचय होने से घोरतम पापो का भी नाश हो सकता है। सन्त पुरुषो का सामीप्य ही 'घातक पातिक' को क्षय करने वाला है। आगे कहा है कि सन्तजनो के संसर्ग मे आने से अकुशल अपचय का भी नाश होता है। इसी कारण भारतीय संस्कृति मे तो प्रारम्भ मे विवेकशील पुरुषो ने सन्तो के महत्त्व को सदैव ऊँचा बताया है। वास्तविक सन्त-जीवन ऐसा ही जाज्वल्यमान होता है जिसका परिचय ही कुवृत्तियो एव कुकृत्यो को शिथिल बनाकर उनको समूचे तौर पर नष्ट कर देने मे सफल होता है।

परन्तु यह समझने की बात है कि साधु से परिचय किस रूप मे हो? सन्त के समीप जाकर यह पूछना कि उनका नाम क्या है, जन्म कहाँ और कब हुआ, दीक्षा कब ली आदि ही क्या परिचय करने का तरीका होगा? समझने की यही बात है कि इस तरह का परिचय मात्र ही सच्चा परिचय नही होगा। यह तो एक बाहरी जान-पहिचान हुई जो सांसारिक कार्यों के काम की हो सकती है, किन्तु आत्मिक दृष्टि से उसका कोई खास महत्व नही। आत्मिक परिचय तभी होता है जब आत्मा आत्मा से स्वयं मिले और एक-दूसरे से प्रभावित हो।

साधु-जन से परिचय करें

इस परिचय का वास्तविक तात्पर्य यही होगा कि विकासकामी आत्मा सन्त-आत्मा की निर्मल आत्मा से आन्तरिक संयोग जोड़े। संयोग से भी धीरे-धीरे वह आगे बढ़कर स्वरूप की एकरूपता ग्रहण करे तो उस परिचय की सच्ची सफलता मानी जायगी। जो इस प्रकार आन्तरिक रुचि के साथ साधु जीवन के परिचय मे आता है, वह परिचय शनैः शनैः ही नहीं—उसके मस्तिष्क मे साधु वृत्ति के प्रति आकर्षण को जन्म देता है। यदि ऐसे आकर्षण का प्रादुर्भाव उस आत्मा मे हो जाय तभी समझना चाहिए कि वह साधु के परिचय मे आया है। परिचय के बाद सम्पर्क और साधारण सम्पर्क से घना सम्बन्ध न बने तो वैसा परिचय सार्थक कैसे माना जा सकता है?

वास्तव मे साधु जीवन का ऐसा परिचय ही आत्मा मे रहे हुए घातक पातकों का नाश करता है तथा पापो के उसमे प्रवेश होने का द्वार भी बन्द कर देता है। आज

अन्तगढ सूत्र के गज सुकमाल का प्रसंग सुन रहे है। राजकुमार गजसुकमाल ने भी तो साधु-परिचय ही किया था और वह परिचय इतना सार्थक निकला कि वे जिन महान साधु पुरुष के परिचय मे आये, उनसे भी पहले अपनी आत्मा का कल्याण करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये। सच्चे साधु-परिचय का ऐसा ही उत्कृष्ट फल हुआ करता है।

गज सुकमाल जी का साध-परिचय

गज सुकमाल राजकुमार अभी कोमल किशोर वय मे ही पहुंचे थे कि उस भव्य आत्मा ने जब एक बार अपने बडे भाई त्रिखडाधिपति श्रीकृष्ण वासुदेव को चतुरंगिणी सेना के साथ प्रस्थान करते हुए देखा तो पूछ लिया कि वे कहाँ पधार रहे हैं और ज्येष्ठ भ्राता ने भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जाने की बात कही तो गजसुकमाल भी दर्शनार्थ चलने के लिए तुरन्त तैयार हो गये। यह उनके सन्त जीवन से परिचय पाने की आकाक्षा का द्योतक था।

श्रीकृष्ण को यह ज्ञात था कि जब उन्होने तेला करके देव का आह्वान किया था और उससे अपने लघु-भ्राता के भावी जीवन की जानकारी ली थी तो उसने बताया था कि वह छोटी उम्र मे ही साधु-जीवन का परिचय पाकर स्वयं भी साधु बन जायगा। फिर भी श्रीकृष्ण को सन्त जीवन पर पूर्ण आस्था थी और वे समझते थे कि उसका परिचय होने से जव घातक पाप पुंज भी नष्ट हो जाता है तो माता देविका को अवश्य ही महसूस होगा, वरना छोटा भ्राता इस रूप मे भी अपनी आत्मा का उद्धार कर लेता है तो वह हर्ष का ही विषय बनेगा।

उन्होने उसे पवित्र प्रसग मानकर ही लघु भ्राता को अति स्नेहपूर्वक साथ चलने की अनुमति दे दी। आत्माभिमुखी व्यक्ति को तो साधु परिचय सदैव मगलमय रूप मे ही दिखाई देगा, क्योकि उसको इस सत्य का ज्ञान होता है कि आत्मा के विकास का मार्ग इसी महाद्वार मे से होकर आगे वढता है। आज के युग मे भी आप सन्तो के परिचय को महत्व तो देते हैं किन्तु यह आपके सोचने का प्रश्न है कि वह महत्व कितने गहरे और स्थायी रूप से देते है? आपके परिवार का कोई कोमल पौधा अगर सत जीवन का खाद लेकर विशाल वृक्ष के रूप मे वदलने की आपके सामने अभिलाषा प्रकट करता है तो सोचें कि आप उसकी अभिलाषा को प्रोत्साहित करते है अथवा उसे दवा देना चाहते हैं। सन्त परिचय की कसौटी सन्त जीवन के प्रति स्नेह की मात्रा से ही तो आकी जायगी, वरना वह परिचय दिखाऊ ही कहलायगा।

प्रथम सन्तदर्शन से ही यात्रारंभ

श्रीकृष्ण ने छोटे भाई को इसी विचार से साथ मे लिया कि यदि किशोर मस्तिष्क मे ही सद्सस्कारो का निर्माण किया जाता है तो उनका भविष्य सुगटित

और श्रेष्ठ बनें—इसमें कोई सन्देह नहीं रहेगा। श्रेष्ठ संस्कारों को जन्म देने के लिए महासाधु प्रभु के दर्शन से बढ़कर और क्या सशक्त साधन हो सकता है ?

राजकीय वैभव के साथ श्री कृष्ण की शोभा-यात्रा प्रभु के समवशरण की ओर अग्रसर हो रही थी, उस समय मार्ग में श्रीकृष्ण की दृष्टि एक ऐसी तरुणि पर पड़ी जो उन्हें अपने तरुण भ्राता के लिए सर्वथा उपयुक्त जान पड़ी। उस तरुणि को उन्होंने लाक्षणिक दृष्टि से देखा तो महसूस हुआ कि इसके सहवास में भाई का जीवन बड़ा ही व्यवस्थित रह सकेगा। उन्होंने मार्ग में ही उस तरुणि के पिता सोमिल ब्राह्मण से उसकी पुत्री की अपने छोटे भाई के लिए याचना कर ली। चारित्रिक गुणों को महत्व देने के कारण उन्होंने यह नहीं सोचा कि याचना का काम तो लड़की के पिता को करना चाहिए।

लड़के-लड़कियों के सम्बन्ध के सिलसिले में आज के लोगों की मनोवृत्ति देखें तो खेदजनक स्थिति बनती है। गुणों के गज से नापने का ख्याल बहुत कम माता-पिता को रहता होगा। अधिकांशतः तो सम्बन्ध के मामलों को पैसे के गज से ही नापते हैं। धन को सिर पर बिठाने वाले के लिए क्या यह कहा जा सकता है कि उसे तनिक सा भी साधु-परिचय है ? धन-लिप्सा का बहुत बड़ा बवाल आज समाज में चल रहा है और पैसे के परिचय वाली आत्माएँ व्यक्त न सही, अव्यक्त रूप से ही साधु परिचय को ठुकराती ही तो हैं।

यह सम्बन्ध अपने छोटे भाई के लिए पक्का करके श्रीकृष्ण आगे बढ़े। श्रीकृष्ण ने विधिपूर्वक उस स्थान में प्रवेश किया, जहाँ भगवान् विराज रहे थे तथा गजसुकुमाल ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुसरण किया। समवशरण में अनेकानेक व्यक्ति भगवान् के दर्शन कर रहे थे, उनकी वाणी का श्रवण कर रहे थे, किन्तु गजसुकुमालजी का दर्शन और श्रवण कुछ अनूठा ही था। प्रथम दर्शन एवं श्रवण के साथ ही जैसे उन्होंने अपने आत्म विकास की महायात्रा का आरम्भ कर दिया।

रंग में रँगना इसे कहते हैं

लघुकर्मी आत्माओं का ऐसा स्वभाव होता है कि वे तुरन्त धर्म के रंग में रंग जाती हैं। व्याख्यान के प्रवाह में से एक धारा सीधी गजसुकुमाल के अन्तःकरण में प्रवेश कर गई जिसका आधुनिक कविता ने इन शब्दों में वर्णन किया है—

"यह पुण्य कैसा [illegible] "

[illegible] धारा ने उनके [illegible] की धारा [illegible] नया मोड़ दे दिया। व्याख्यान समाप्ति के बाद [illegible] परिषद् उठने लगी [illegible] श्रीकृष्ण [illegible] [illegible] भी [illegible]। इसी समय राजकुमार [illegible] अरिष्टनेमि भगवान् के समक्ष [illegible] कहने लगे—भगवन् ! [illegible]

स्वरूप को समझा और मैं आत्मा की स्थिति को भी पहिचान पाया। इस आत्मा के साथ किन-किन वृत्तियो का खेल हो रहा है और उनके पीछे आत्मा किस प्रकार विभ्रमित वनी हुई है—आत्मा के इस पतन को मैं स्पष्ट देख रहा हूं। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया है कि इस मनुष्य जीवन को इन वृत्तियो के पीछे नष्ट नही करूं, वल्कि आपके चरण परिचय मे आकर इन घातक वृत्तियो को ही मिटा दूं। अत आप मुझे अपनी चरण शरण मे लेकर दीक्षित वना लीजिए।

ससार के समृद्ध ऐश्वर्य के वीच वैठे हुए एक राजकुमार को पहली वार साधु जीवन का दर्शन हुआ और पहली ही वार महान् त्याग के लिए वे तत्पर हो गये। ऐसी शौर्य्यमय तत्परता को ही रग मे रँगना कहते है। उन राजकुमार ने संसार को स्वप्न की तरह त्याग देने का सहज ही मे सकल्प वना लिया। मनुष्य के विचारो मे परिवर्तन आता है किन्तु साधु जीवन के ससर्ग से वह परिवर्तन कितना त्वरित वन जाता है—इसके प्रत्यक्ष उदाहरण गजसुकमाल हैं।

अरिष्टनेमि भगवान् तो वीतराग थे—भावी का सव कुछ उनके ज्ञान मे था। उन्होने यही कहा—

"जहा सुहं देवाणुप्पिया, मा पडिवध करेह··· ··"

अर्थात—हे देवानुप्रिय। जैसा सुख उपजे, वह करो, किन्तु जो कुछ करना है, उसमे विलम्ब मत करो। राजकुमार यह सुनकर वडो की दीक्षा हेतु आज्ञा प्राप्त करने तुरन्त राजभवन पहुँच गये। विनीत भाव से माता के चरणो मे नमस्कार करके वोले—हे माता! आज मैंने साधु-जीवन से परिचय किया, अरिष्टनेमि भगवान् के दर्शन किए। माँ ने प्रसन्न होते हुए उत्तर दिया—लाल! तुम्हारे नेत्र पवित्र हो गये। गजसुकमाल ने फिर कहा—ओ जननि! मैंने उनकी वाणी भी श्रवण की। देविका रानी ने हर्षावेग मे फिर उत्तर दिया—वेटा! तुम्हारे कान भी पवित्र हो गये और पवित्रता ने तुम्हारे हृदय मे भी प्रवेश किया। गजसुकमाल ने सोचा कि अव तो माता को स्पष्ट हो कहना पडेगा, वे वोले—मातेश्वरी! तभी तो हृदय ने निश्चय कर लिया है कि मैं भगवान् के चरणो मे दीक्षा ग्रहण कर लूं।

यह सुनकर देविका रानी एकदम स्तब्ध रह गई। उसने सोचा कि सात-सात पुत्रो का लालन-पालन मैं नही कर सकी, अब यह आठवाँ पुत्र है जिसे ही मैं गोदी मे खिला सकी हूँ, वह भी यो छोडकर जाना चाहता है। प्रभु ने विलम्ब न करने का निर्देश जो दे दिया है, अत. अब यह रुकेगा नही, सन्त समागम के रंग मे वह पूरी तरह भीज गया है और दीक्षा लेकर ही मानेगा।

नश्वर के साथ कैसा मोह?

मानव जीवन मे सुन्दर शरीर, तरुण आयु और महान् ऐश्वर्य्य का संयोग एक साथ मिले और उसमे गजसुकमाल की तरह कोई उन सबको त्यागने के लिए

उतना शीघ्र तत्पर हो जाय—यह साधारण बात नहीं है। यह जानते हुए भी कि संसार के ये सब भोग नश्वर हैं, फिर भी उनके मोह-बन्धन से छुटकारा पा लेना अति कठिन होता है। नश्वर का मोह ही तो आत्मा को कर्म-बन्धनों से बाँधे हुए रखता है तथा उसे अपने गन्तव्य की ओर मुड़ने भी नहीं देता है। माँ के समझाने पर भी गजसुकुमार ने यही कहा—माँ! नश्वर के साथ कैसा मोह? यदि यह अमूल्य समय यों ही गँवा दिया तो गया हुआ समय वापिस कभी नहीं आयगा। वासुदेव महाराज भी वहीं आ गये, उन्होंने भी जब राजकुमार की दृढ अन्तरंग भावना देखी तो चकित रह गये, फिर भी एक पासा फेंका—कहा कि यदि तुम दीक्षा नहीं लो तो तीन खंड का राज्य तुम्हें सौंप दिया जायगा।

जिसने आत्मा के अमर राज्य को समझ लिया हो और उसे पाने का संकल्प कर लिया हो—उसके लिए तीन खंड छोड़, छ खंड का राज्य भी तुच्छ हो जाता है। गजसुकुमार किसी भी कीमत पर संसार में ठहरने को तैयार नहीं हुए। आज का इन्सान तो यह सोचता है कि जितना वह सम्पत्तिशाली है, उतना ही स्वतन्त्र और सन्त-जीवन की कठिन मर्यादाएँ तो बन्धन रूप हैं। क्या यह परिचय सन्त जीवन का सच्चा परिचय है? यह बाहर ही बाहर सरोवर की पाल पर चलने वाले का कथन है। सरोवर में जिसने डुबकी लगाई नहीं, शीतलता के आनन्द को जिसने अनुभव किया नहीं—उसके पास पर खड़े रहकर सरोवर की मीमांसा करने को कितना प्रामाणिक माना जा सकता है?

सही स्थिति तो यह है कि यह सम्पत्ति और संसार की माया बन्धन है तथा इनसे स्वतन्त्र होने का मार्ग ही साधु-परिचय है। सोचिये कि आप घर से कार लेकर चलते हैं तब आपके मन में क्या होता है कि आप कार के स्वामी हैं। लेकिन असल बात यह है कि आप कार के स्वामी नहीं, गुलाम हैं। कार खराब हो जाय तो आप रुक गये। कार कोई चुरा ले जाय तो आप घबरा गये। तब कार के अनुसार आपका स्वभाव चलता है—ऐसी हालत में आप कार के गुलाम ही तो हुए। ये बातें अभी आपको अटपटी लगती हैं, किन्तु जिस दिन आपका साधु जीवन से सच्चा परिचय हो जायगा—आप सांसारिक पदार्थों के दास न रहकर अपनी आत्मा के स्वामी हो जायेंगे, तब सारी स्थिति स्वयमेव स्पष्ट हो जायगी।

एक आधुनिक प्रेरक प्रसंग

स्वर्गीय आचार्य श्री श्रीलाल जी महाराज सा० स्व-समागम से [illegible] [illegible] का एक आधुनिक प्रेरक प्रसंग सुनाया करते थे। यह प्रसंग बीकानेर का था। हुआ यह कि वहाँ चार दीक्षाएँ होने वाली थीं, तो चार नाई हजामत करने के लिए आये व चारों हजामत करने बैठ गये। इसी समय एक पाँचवाँ नाई भी आ गया और उसने देखा कि उसे अवसर नहीं मिलेगा तो वह उदास हो गया। नाई को उदास

देखकर वहाँ खडे हुए एक सेठ के लडके को जैसे यकायक प्रबोध हुआ और वह उसके सामने बैठ गया कि वह उसकी हजामत बना दे। सब देखते रह गए और उसने भी चारो अन्य दीक्षार्थियो के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। जिस भव्य आत्मा के अन्तःकरण मे एक बार साधु जीवन का परिचय बैठ जाता है, वह फिर स्वय साधु जीवन को ग्रहण किए बिना नही रहता। महत्व सन्त जीवन के सम्पर्क का होता है।

साधु-परिचय से स्वरूप परिचय

गजसुकमाल जी की दृढता देखकर उन्हे दीक्षा की आज्ञा देनी ही पडी। भगवान् के चरणो मे दीक्षित होने के तुरन्त बाद ही गजसुकमाल मुनि ने भगवान् से निवेदन किया—भगवन्! ऐसा मार्ग बताइए कि मैं शीघ्र ही इस साधु परिचय से सर्व पातको का घात करके आत्म स्वरूप का सम्पूर्ण परिचय प्राप्त कर लूँ। प्रभु तो सर्व-ज्ञानी और सर्वदर्शी थे। वे जानते थे कि गजसुकमाल चरम आवर्त मे है, अत उन्होने नव दीक्षित होते हुए भी उन्हे बारहवी पडिमा का मार्ग बताया जो हर किसी को नही बताया जाता। आमतौर पर जिसकी दीक्षा कम से कम २० वर्ष की हो एवं जिसकी वय कम से कम २६ वर्ष की हो तो वैसे मुनि को ही भिक्खुपडिमा की साधना की आज्ञा दी जाती है। आज के वातावरण मे तो इस पडिमा की आज्ञा ही नही है।

भगवान् से भिक्खु पडिमा की आज्ञा प्राप्त करके गजसुकमाल मुनि श्मशान मे जाकर ध्यानमग्न हो गये। उधर से सोमिल ब्राह्मण ने आते हुए देखा कि उसका होने वाला जामाता तो मुनिवेश मे ध्यानस्थ बैठा है। यह देखकर वह भयकर रूप से क्रुद्ध हो गया और तुरन्त प्रतिशोध लेने लेने पर उतारू हो गया। उसने गीली मिट्टी लेकर गजसुकमाल मुनि के सिर पर पाल बाँधी तथा पास की चिता मे से धधकते हुए अंगारे लेकर उनके सिर पर भर दिये।

यह कल्पना से भी बाहर होगा कि उस तरुण वय मे उसी दिन तो गजसुकमालजी ने सन्त दर्शन किये—वाणी सुनी, उसी दिन दीक्षित हो गये और उसी दिन भिक्खु पडिमा मे इस विकट परिषह का सामना करना पडा एवं उस भयंकर वेदना के समय मरण-पर्यन्त उन्होने जिस धैर्य, शान्ति एव सहनशीलता का परिचय दिया—वह अद्वितीय था। ऐसा उत्कृष्ट दृष्टान्त कम मिलता है कि उसी दिन वे मुक्तिगामी भी बन गये। एक ही दिन की अवधि मे वे साधु परिचय से स्वरूप परिचय और स्वरूप परिचय से स्वरूप प्राप्ति की मजिल तक पहुँचकर आत्मा से परमात्मा बन गये। परिणामो की विशुद्ध उत्कृष्टता के समक्ष समय कुछ नही होता—पल भर मे इस छोर से उन्नति के उस छोर तक आत्मा की सफल गति सम्पन्न हो जाती है।

पातक-घातक अवस्था की प्राप्ति

उन धधकते अंगारों की असह्य वेदना को जिस शान्ति से गजसुकुमाल मुनि ने सहन किया—वह उनका पूर्णतया सन्तमय जीवन में परिवर्तन था। सन्त जीवन का परिचय तुरन्त ही प्रगाढ़ बनकर सन्तमय हो गया। सन्तमय इसलिए कि अल्पतम समय में उनके सन्त जीवन ने घोर पापों का सम्पूर्ण क्षय कर दिया। वे विचार करने लगे कि मेरा जीवन तो अपूर्व शान्तिमय ही बना रहना चाहिये, क्योंकि जो जल रहा है वह तो शरीर है और उसे तो एक दिन वैसे भी नष्ट होना है, किन्तु मैं तो आत्मा हूँ जो सदैव अजरामर स्थिति में रहने वाली है।

विशिष्ट आत्मिक साधना के बल पर उस समय उनकी आत्मा ने चरम विकास साध लिया। केवल-ज्ञान एवं केवल-दर्शन की उपलब्धि के साथ ही पातक घातक अवस्था प्राप्त करके उन्होंने सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ली। सन्त परिचय कैसा हो और वह किस प्रकार से अभिवृद्ध बन जाय—इसका प्रेरणादायक उदाहरण मुनि गजसुकुमाल का मोक्ष प्रसंग है।

आप भी करेंगे सन्त परिचय ?

पर्यूषण पर्व चल रहा है। आप सम्भवनाथ प्रभु की प्रार्थना का उच्चारण कर रहे हैं और गजसुकुमाल मुनि का दिव्य चरित्र भी सुन रहे हैं तो क्या आप भी करेंगे सन्त-परिचय ? आप इतना सुनकर समझ गये होंगे कि सन्त जीवन का परिचय पातकों को घात करने वाला होता है। इस तत्त्व के आदर्श उदाहरण के रूप में मुनि गजसुकुमाल की मुक्ति के प्रसंग ने भी आपकी भावना को उभारा होगा। फिर तो सम्पूर्ण परिचय नहीं हो सही, पर कुछ-कुछ परिचय करने का तो आप लोगों का निश्चय अवश्य बना होगा। जितना बन सके—अपनी-अपनी मर्यादा से वह भी श्रेयस्कर है, किन्तु कुछ न कुछ निश्चय तो आप बताओ—यह पर्यूषण पर्व का भी तकाजा है।

पर्यूषण पर्व का आधा भाग तो व्यतीत हो गया और फिर भी आपकी सक्रियता दृष्टि में नहीं आए तो यही मानना पड़ेगा कि आदर्श सन्त परिचय केवल ऊपर-ऊपर से ही हुआ है—अन्तर्मन में उसकी धारा प्रवाहित नहीं हो रही है। अगर यह सब कुछ सुनकर सन्तमय जीवन की कुछ भी लौ लगी हो तो अब भी शेष आधे भाग में आपके उज्ज्वल प्रयास सामने आ जाने चाहिये तथा सबके लिए कुछ उल्लेखनीय कार्य बनना चाहिए।

सन्त परिचय शुरू तो कर दें

मुनि गजसुकुमाल के मस्तक पर अंगारे रखने वाले को जहाँ हम [illegible] का मित्र कहते हैं तो फिर भी समझना कि जिसने उनकी आत्मा के चरम विकास को

साज दे दिया। संवत्सरी आ रही है—क्या उस दिन तो आप भी अपने कलुष को—अभिमान और दंभ को त्यागकर सर्व मैत्री का रूप प्रदर्शित कर सकेंगे ? यदि इस तरह राग-द्वेष को घटाया, तब भी यह मान लिया जायगा कि आपने कम से कम साधु जीवन से परिचय प्रारम्भ तो कर दिया है। पूर्ण रूप से नही तो देश-विरति से ही सन्त जीवन के संसर्ग से उनके अनुरूप अपने जीवन को ढालिये।

अभी तो यह मंगलाचरण के रूप मे ही है—सरोवर की पाल पर ऊपर-ऊपर ही घूमने जैसा है। सरोवर मे डुबकी लगाने का साहस करेंगे तभी साधु जीवन से सच्चा परिचय हो सकेगा और तभी समस्त पातको की घात भी हो सकेगी।

लाल भवन
८–६–७२



सहयोगी से भोगी जीवन क्यों ?

"ग्रन्थ अध्यातम श्रवण मनन करि रे . . ."

भगवान् सम्भवनाथ की प्रार्थना के माध्यम से हम सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग देव के उपदेशों के विमर्श में रहे हैं जिनमें मानव का समग्र कल्याण निहित है। जिन उपदेशों में मानव ही नहीं, समूचे प्राणी समाज द्वारा शान्ति-लाभ करने का अमोघ उपाय दिया हुआ है ऐसे उपदेशों पर सभी विवेकशील एवं विकासकामी व्यक्तियों का पावन कर्त्तव्य है कि वे जीवन के एकान्त क्षणों में चिन्तन करें तथा भूतकालीन अवस्था की आलोचना करते हुए क्रियाशील वर्तमान की सम्पादना से प्रगतिशील भविष्य का निर्माण करें।

किसी भी कार्य की पृष्ठभूमि में कारण का अनुसंधान अवश्य रहता है। जिस कारण में शुद्धता हो उसी कारण से बनने वाले कार्य में भी पवित्रता का वातावरण बना रहेगा। जीवन एक कर्म-क्षेत्र होता है, जहाँ सहयोग की भावना से स्व-पर की आत्माओं को पवित्र बनाने वाले कार्य किये जाने चाहिये। एक दृष्टि से जीवन अपरिवर्तनशील होता है तो दूसरी दृष्टि से परिवर्तनशील भी होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में 'सत्' शब्द की यह परिभाषा की गई है—

"उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्।"

जो सत् तत्त्व है—उत्पत्ति और विनाश की दृष्टि से परिवर्तनशील होता है तो ध्रुव दृष्टि से अपरिवर्तनशील।

जीवन जिस ध्रुव तत्त्व पर आधारित है और जिसका मूल स्वरूप अपरिवर्तनशील होता है वह है आत्म-तत्त्व। किन्तु यही आत्मा कर्म-पुद्गल की संलग्नता से विविध शरीरों में उत्पन्न होती है और उन शरीरों की दृष्टि से नष्ट होती है तथा विविध जीवनों का निर्माण करती है यह उसका परिवर्तनशील रूप है। इस परिवर्तनशीलता में भी आत्मा के मूल स्वरूप की अपरिवर्तनशीलता बराबर बनी रहती है। एक स्वर्णाभूषण का [illegible]

दिखाई दे सकता है। किन्तु मैल मे रहे या साफ होने पर दिखाई दे—उसका स्वर्णत्व ध्रुव रूप से एक-सा बना रहता है। मैल जमने या उसे धो लेने की दृष्टि से स्वर्णाभूषण के स्वरूप मे परिवर्तन भी अवश्य परिलक्षित होता है।

शाश्वतता और परिवर्तनशीलता

शाश्वतता और परिवर्तनशीलता के इस क्रम मे वस्तु-स्वरूप के विषय से शास्त्रीय भाषा मे दो रूपक बताये गये है, जिन्हे द्रव्य और पर्याय के नाम से पुकारा जाता है। पर्यायो के परिवर्तित होते रहने पर भी उनमे शाश्वत द्रव्य का निवास रहता है—यही सत् तत्त्व का लक्षण है। जिस द्रव्य के अस्तित्व के साथ जीवन का परिवर्तन होगा और जो उत्थान की दिशा मे होगा, वह द्रव्य की पवित्र दशा के साथ ही घटित होता हुआ दिखाई देगा। शास्त्रीय विवेचनो के अनुसार जीवन भी एक सत् तत्त्व माना गया है जिसमे उत्पत्ति और विनाश के साथ द्रव्य का अटल अस्तित्व भी रहा हुआ है।

जहाँ जीवन के प्रसंग मे कार्य-सम्पन्नता का अवसर आता है, वहाँ उसके कारण को अवश्य ढूँढना है। बिना कारण के कार्य की सम्पूर्ति नही होती। यदि कारण अशुद्ध है—साधन पवित्र नही है तो कार्य भी अशुद्ध और अपवित्र ही बनेगा। कार्य की सफलता और उज्ज्वलता के लिये कारण का शुद्ध और पवित्र होना अनिवार्य है।

साधन-शुद्धि का प्रश्न

आज जब विश्व, राष्ट्र और समाज की परिस्थितियो पर दृष्टिपात करते हैं तो साधन-शुद्धि के विचार की शिथिलता मे वर्तमान का शोचनीय रूपक बन रहा है। क्योकि वहाँ भूतकालीन गौरव के प्रति अनुराग घट रहा है तो सुन्दर भविष्य के निर्माण के प्रति भी पर्याप्त उत्साह नही है। यह एक विडम्बनापूर्ण स्थिति है। हमारे भारत देश मे यह स्थिति और भी अधिक खेदजनक है। वर्तमान जीवन मे भविष्य का साध्य धूमिल है तो साधन-शुद्धि की सतर्कता भी सोई हुई है।

गाँधी जी ने इस युग मे भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के परिप्रेक्ष्य मे साधन-शुद्धि पर बहुत बल दिया किन्तु परिवर्तन कितना जल्दी और किस उल्टी दिशा को बढ रहा है—उसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि गाँधी जी के निधन को इतना कम समय हुआ है, फिर भी उनका साधन-शुद्धि का विचार सत्ता और राजनीति के किसी भी क्षेत्र मे आज जीवित नही दिखाई दे रहा है। इसका कुफल भी सामने है कि कार्यों की स्फूर्ति भी विपरीत दिशाओ मे जाती रहती है।

साधन-शुद्धि एक महत्त्वपूर्ण विचार है। जो लोग इस विचार की उपेक्षा करके सुसाध्य को प्राप्त कर लेना चाहते है, उनके लिये कहा जाना चाहिये कि वे भ्रमपूर्ण

व्यक्ति, समाज और समन्वय

"अभिनन्दन जिन दरशन तरसिये ..."

यह भगवान् श्री अभिनन्दन की प्रार्थना है। भगवद्दर्शन की अभिलाषा रखने वाला एक जिज्ञासु इस रूप में अपनी आन्तरिक भावना को व्यक्त कर रहा है। प्रभु के दर्शन की जिज्ञासा जिसके अन्तर में प्रबल रूप से जागृत हो जाती है, वह उस मार्ग पर अपने आप को शीघ्रातिशीघ्र गतिशील भी बना लेता है। यह परमात्मा को जानने और उस स्वरूप को पाने का जो मार्ग है, उसके बारे में विभिन्न मत, विभिन्न धारणाएं और विभिन्न विचार जानने को मिलते हैं। जिज्ञासु इन सब मत-मान्यताओं को जानता है, किन्तु उनके सम्बन्ध में जब तक वह अपनी स्वयं की कसौटी नहीं बना लेता है तब तक अपना निर्णय नहीं बनाता है।

वस्तुतः वह जिज्ञासु पहले स्वयं अपने आप का दर्शन करना चाहता है। जब कोई व्यक्ति हिमालय पर्वत पर चढ़ने का संकल्प करे तो पहले यह देखना जरूरी ही माना जायगा कि उसके पास उचित क्षमता और साधन उक्त संकल्प को पूरा करने के लिये हैं या नहीं। प्रभु के दर्शन करने हैं तो उसे पहले यह देखना चाहिए कि दर्शन की अभिलाषा [illegible] जिज्ञासु किस स्तर पर [illegible] है—उसकी वैचारिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति कैसी है तथा जिस स्तर [illegible] उसका व्यवहार है, क्या वह [illegible] दर्शन की पूर्णता में सहायक है अथवा [illegible] नहीं होगा।

यथार्थ और आदर्श—दोनों हो

जिज्ञासु के सामने आदर्श तो परमात्मा का स्वरूप होता है जिसकी उपलब्धि हेतु वह प्रयत्न करना चाहता है। उस आदर्श की प्राप्ति हेतु उसे अपना यथार्थ देख लेना चाहिये। यदि आदर्श और यथार्थ का सम्यक् बोध नहीं किया जाय तो [illegible] होगी—इसका अनुमान भी नहीं [illegible] उस मार्ग पर चलते हुए मंजिल तक पहुँच सकने की अपनी क्षमता सम्बन्धी धारणा भी स्पष्ट नहीं बनेगी। आदर्श को यथार्थ के साथ समन्वित करके देखने से ही अपनी क्रियाशीलता [illegible] सकती है।

यथार्थ और आदर्श का समन्वित रूप हमे वीतराग वाणी मे मिलता है। वीतराग वह जिसने कलुष के रूप मे अन्तिम बिन्दु (राग) को भी धो डाला है। द्वेष हटाना फिर भी आसान है, किन्तु राग-भाव का त्याग अति कठिन होता है, अत जिन्होने अपने राग को व्यतीत कर दिया है, उनकी वाणी निर्विकार और पथ-प्रदर्शक होगी। वह वाणी राग-द्वेष आदि विकारो रूप कलुष से रहित तथा आत्मा की पवित्र एव निर्मल शक्ति से प्रकट होने वाली वाणी होती है।

वीतराग वाणी के सदाशय को यथास्थान समझना तथा प्रत्येक वस्तु अथवा तत्त्व का तदनुसार मूल्याकन करना ही यथार्थ और आदर्श—दोनो का सहज समन्वित रूप प्रकाशित कर सकता है। वह मूल्याकन सापेक्ष दृष्टि से हो सकता है। दृष्टि का महत्त्व इस रूप मे है कि जो वस्तु-स्वरूप जैसा है, वह अपने सत्य स्वरूप मे दिखाई दे और उसके सभी रूप प्रकाश मे आ जाएँ।

व्यक्ति और समाज का मूल्यांकन

इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज का मूल्याकन समाज के धरातल पर हो तथा व्यक्ति का मूल्याकन व्यक्ति के धरातल पर हो। व्यक्ति और समाज इन दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध अपने आप मे अलग ही मूल्य रखता है। मूल रूप मे देखे तो व्यक्ति को छोड देने पर समाज के नाम का कोई अस्तित्व ही नही हो सकता है, अत वास्तव मे व्यक्ति समाज की जड है। समाज एक प्रकार से व्यक्तियो के समूह का ही नाम है। व्यक्ति से समाज बनता है। अगर कोई बीज की सुरक्षा करे तो फसल भी तैयार हो सकती है, किन्तु बीज को ठुकरा कर या भूल कर फसल कैसे प्राप्त की जा सकेगी ?

जहाँ मूल तत्त्व व्यक्ति है और उसके महत्त्व को यदि विशिष्ट तरीके से लिया जाय तो सामूहिक तत्त्व की स्थिति भी विशिष्ट और आदर्श बन सकती है। समाज के मूल्याकन मे व्यक्ति का मूल्याकन निहित है। इसलिये देखना है कि व्यक्ति के जीवन की स्थिति और व्यक्ति-व्यक्ति के साथ स्नेह की स्थिति किस प्रकार आ सकेगी ?

एक व्यक्ति स्वय जब पहले हृदय मे स्नेह का पौधा अकुरित करेगा तभी तो वह उस स्नेह को दूसरो पर प्रकट कर सकेगा और उन्हे भी स्नेह की स्निग्धता से परिचित बना सकेगा। स्नेह का ऐसा तरल भाव जब विस्तृत बनता है तो अनुभव के साथ स्नेह की उपादेयता पर चिन्तन चलता है और फिर समाज मे स्नेहिल वातावरण बनता है। इस कारण मूल रूप मे व्यक्ति को ही अपने स्वय के अन्दर रहते हुए भी सभी दृष्टिकोणो को अपने जीवन मे स्थान देते हुए जिस दृष्टिकोण का जहाँ जैसा मूल्याकन हो, उस दृष्टिकोण को उसी सीमा तक रखना चाहिये।

समूहों का समूह—समाज

जब हम पूरे मानव समाज की बात करें और उसमें व्यक्ति के रूप पर सोचें तो यह दिखाई देता कि एक ही व्यक्ति एक साथ पूरे समाज से सम्बद्ध नहीं रह सकता है क्योंकि परिचय का दायरा बढ़ सकता इतना व्यापक हो सके जो उसके लिये सम्भव नहीं है। इसकी सुविधा हेतु, अपनी-अपनी रुचि या कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से कई प्रकार के समूह अथवा वर्ग बन जाते हैं और एक-एक वर्ग के भी कई स्तर। इस तरह व्यक्ति अपने आप को समाज से सम्बन्धित बनाता है। समाज भी इस तरह विभिन्न समूहों के समूह का नाम हो जाता है।

इन समूहों का निर्माण विभिन्न क्षेत्रों, गुणों, रुचियों, धर्मों, संस्कृति, विचा-र धाराओं आदि के आधार पर होता है। जैसे—विद्यार्थी वर्ग, व्यापारी वर्ग आदि। इन वर्गों में सदस्य संख्या की भिन्नता है और वातावरण की भिन्नता भी। इस प्रकार वर्गों और समूहों के अपने आधारभूत सिद्धान्त और दृष्टिकोण भी बन जाते हैं। ये सिद्धान्त और दृष्टिकोण आपस में विभिन्न होते हैं और अपने-अपने मार्ग से आगे बढ़ना चाहते हैं। ये वर्ग अथवा समूह विभिन्न विचार-धाराओं, मान्यताओं, पन्थों, प्रतिष्ठानों आदि का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक ही व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार एक साथ कई वर्गों अथवा समूहों का सदस्य हो जाता है तथा अपनी-अपनी दिशा में उनके मार्ग पर चलता है। इस प्रकार व्यक्तियों के मिलने से कई समूह भी परस्पर सम्बद्ध होते हैं जो किसी न किसी प्रकार उनका या सामान्य सम्बन्ध भी समाज के साथ रहता है।

दृष्टिकोणो को सहानुभूतिपूर्वक सुनकर उनके सत्याशो को ग्रहण करते हुए एक स्वस्थ एव सामजस्यपूर्ण दृष्टिकोण के निर्माण की प्रेरणा इस श्रेष्ठ सिद्धान्त से मिलती है।

मैं स्याद्वाद का दृष्टिकोण आपके सामने रख रहा हूँ। सम्पूर्ण मानव-सख्या को शामिल करे तो वह मानव-समाज है ही। अब पशुओ का भी समूह है। परन्तु स्यात् शब्द का मानव समाज के लिये प्रयोग करे तो वह वाक्य होगा—'स्यात् अस्त्येव मानव समाज', तो यह स्यात् शब्द प्रकट करता है कि मानव समाज पशु समाज नही है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से तो मानव समाज असशय रूप है। किन्तु पशु समाज की द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से मानव समाज नही है। अगर एक दृष्टि से अस्ति है तो दूसरी दृष्टि से नास्ति भी होगी। वस्तु-स्वरूप को पहिचानने के लिये यह दृष्टिभेद नही है, अपितु सभी दृष्टियो से उसे समन्वय के साथ पहिचानने की सम्यक् विधि है।

अनेकधर्मी वस्तु की पहिचान

सिक्के की दो बाजू होती है और एक ही बाजू को देखकर उसे पूरा सिक्का कोई बता दे तो उसकी बात सही नही होगी। सिक्के का पूरा ज्ञान तो उसकी दोनो बाजुओ को देखने पर ही होगा। इसी प्रकार अनेकानेक धर्मो का पिंड वस्तु होती है। उन अनेक धर्मों को विभिन्न प्रकारो से समझाने और वस्तु के पूर्ण स्वरूप का परिचय पाने के लिये स्याद्वाद ही एक समर्थ सिद्धान्त है और अब तो विज्ञान-जगत् ने भी इसको पूरी मान्यता दे दी है। सापेक्ष दृष्टि से आत्मा भी एक तत्त्व है, महात्मा वह आत्मा का विशिष्ट तत्त्व है तो आत्मा के साधारण और विशिष्ट स्वरूप को समझने के लिये विशिष्ट परिभाषाओ के साथ स्याद्वाद का प्रयोग किया जाता है। अगर वस्तु के एक ही धर्म को उसका समस्त स्वरूप मान लिया जाय तो अंधो द्वारा हाथी के एक-एक अंग को ही पूरा हाथी मानने जैसी बात हो जायगी।

वस्तु की तरह ही व्यक्ति या समूह का भी एक ही रूप नही होता। यदि एक ही रूप को समग्र रूप मान लें, तब वह एकागी दृष्टिकोण होगा। जैसे एक व्यक्ति को पिता ही कह दें तो वह गलत हो सकता है, इस दृष्टि से कि वह अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है, मामा की अपेक्षा से भानजा भी है—आदि। तो उस व्यक्ति को उसके सभी सम्बन्धो के परिप्रेक्ष्य मे समझना होगा तथा जिस समय जिस सम्बोधन की आवश्यकता हो उस समय उसे उस सम्बोधन से पहिचानना होगा तभी उसके विभिन्न सम्बन्धो मे विवाद नही होगा।

इसी तरह व्यक्ति, समूह और समाज के पारस्परिक सम्बन्धो मे भी सापेक्ष दृष्टि रखने और जिस समय जिस पक्ष पर बल देना हो, उस पर बल देने से सब मे सार्थक समन्वय बिठाया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे सब मे समन्वय भी हो जायगा तथा प्रत्येक के मूल धरातल की रक्षा भी हो जायगी।

समाज और समता

यदि समन्वय की दृष्टि से साथ वस्तुस्वरूप की पहिचान की जाय और व्यक्ति का समाज के साथ तादात्म्य बिठाया जाय तो समाज का कल्याण अधिक महत्त्वपूर्ण बन जायगा। एक ओर तो व्यक्ति की स्वयं की निष्ठा हो तो दूसरी ओर समाज का वातावरण भी उसके अनुकूल बनाया जाय तो इस दुहरे प्रभाव से व्यक्ति का सुधार और उसके जरिये समाज का सुधार आसान हो जायगा। समाज में समता स्थापित करना है इस प्रश्न को लीजिये। एक व्यक्ति अपने क्षेत्र में समता दर्शन को निष्ठापूर्वक अपने जीवन में उतारता है तो उसके स्वरूप को देखकर दूसरा व्यक्ति उस ओर आकर्षित होता है व इस तरह उसका आचरण व्यापक बनता जायगा। इसके साथ ही यदि दूसरे छोर से सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयत्नों से समता की भावना को व्यापक रूप दिया जाता है तो समता की स्थापना का कार्य अधिक सरल बन जायगा।

चाहे राज्य की शक्ति हो अथवा संस्था की शक्ति—कानून अथवा नियम की रचना तभी की जाती है, जब काफी लोगों का ऐसे कानून या नियम के पक्ष में मत बन जाता है। यहाँ व्यक्ति की निष्ठा मिलकर ही तो राज्य की शक्ति बनती है फिर भी यह शक्ति व्यक्ति की नियन्त्रक भी बन जाती है। इसीलिये कहा जाता है कि व्यक्ति की शक्ति से सामाजिक शक्ति बड़ी होकर व्यक्ति का नियन्त्रण भी करती है। समता एवं नैतिकता के प्रसार में इस प्रकार दोनों शक्तियों की सहायता ली जा सकती है।

सामाजिक शक्ति का महत्त्व

सामाजिक शक्ति व्यक्ति को बुरी ओर जाने से रोकती है तथा अच्छाई की तरफ प्रेरित करती है। जितना व्यक्ति विवेकशील और जागृत होगा, उसकी सामाजिक शक्ति भी सुगठित बनी रहेगी।

एक ही डोरी के दो छोर

व्यक्ति और समाज अलग-अलग नही, एक ही डोरी के दो छोर हैं अपनी शक्ति की दृष्टि से। व्यक्ति की शक्ति एक ओर से चलती है तो सामाजिकता को पुष्ट बनाती है और सामाजिक शक्ति भी दूसरे छोर से चलकर व्यक्ति के सद्‌गुणो को प्रकाशित करती है। व्यक्ति और समाज के बीच ऐसी ही स्वस्थ परिपाटी होनी चाहिये।

अभिनन्दन भगवान् की प्रार्थना का यही दृष्टिकोण है कि हम उनके दर्शन करें। कैसे होगे उनके दर्शन ? इसके लिये हम अपना निज का दर्शन करे, अपने पडोसी का दर्शन करें, समाज का दर्शन करें, राष्ट्र और विश्व का दर्शन करें और विश्व के हार्दिक दर्शन के बाद अभिनन्दन प्रभु के दर्शन करें। इस दिशा मे सभी व्यक्तियो और समूहो मे विचार-समता का धरातल बनना आवश्यक होगा। व्यक्ति अपने जीवन के साथ चल सकता है किन्तु समाज के मूल्याकन को नही भुला सकता है। समाज के सहयोग से ही वह अधिक विकास सम्पादित कर सकता है। यह भी नही हो कि समाज की महत्ता के पीछे व्यक्ति का मूल्याकन घटा दिया जाय और व्यक्ति को समाज की कठोरता के सामने विवश बना दिया जाय। दोनो ओर का सन्तुलन भी परमावश्यक है।

समाज की जड़े व्यक्ति मे उसी प्रकार है, जिस प्रकार प्रौढावस्था की जडें बचपन मे होती है। बचपन मे जिन-जिन सस्कारो को सचित कर लिया जाता है, उनका प्रभाव प्रौढावस्था तक बना रहता है। व्यक्ति का जैसा निर्माण होगा उसी का प्रभाव सामाजिक रचना पर भी निश्चित रूप से पडेगा। यदि बचपन मे ही सुसस्कार कुंठित बन जायँ तो उसकी प्रौढावस्था को सुधारना काफी कठिन कार्य बन जायगा। उसी तरह व्यक्ति को बिगडते रहने देकर समाज को श्रेष्ठ बनाने की कल्पना भी खरी नही उतरेगी। व्यक्ति और समाज के सस्कारो को समन्वित बनाना पडेगा।

व्यक्ति की सजगता पहले जरूरी

आप अयवन्ता कुमार का चरित्र सुन रहे है। इतनी बाल अवस्था मे जिन्होने वैरागी बनकर दीक्षा ले ली, उनकी कितनी सजगता रही होगी ? कहा जा सकता है कि छोटी वय मे आत्मा, परमात्मा, धर्म और कर्म के गभीर महत्त्व को उन्होने कैसे समझा होगा ? यदि व्यक्ति की सजगता हो तो यह असभव नही है। दूसरे, उनके माता-पिता भी इतने सजग थे, जिन्होने अपनी सन्तान पर सुसस्कार डाले। सद्‌गुण जब व्यक्ति अपनाते हैं तो इन्ही गुणो के साथ समाज की सुन्दर रचना होती है।

की रुचि जागृत होना स्वाभाविक हो जाता है। उस समय ऐसा ही समन्वित रूप समाज का रहा होगा तभी तो अयवन्ता कुमार जैसा बालक भी सहज ही साधना की ओर मुड गया। बहते पानी मे उन्होने पात्र रूपी नाव क्या तिराई कि अपनी स्वयं की आत्मा रूपी नाव को संसार के भव चक्र से तिराकर ले गये।

जब व्यक्ति अपनी सदाशयता से समूह और समाज का अनुशासन स्वीकार करता है तो उसके साथ आवश्यकता का सूत्र भी जुडा रहता है। यह आवश्यकता उसके अपने जीवन निर्वाह के पदार्थों के सम्बन्ध मे भी होती है तो ज्ञान और कर्म की साधना के सम्बन्ध मे भी। अकेला व्यक्ति सामाजिक सहयोग से ही जन्म लेता है तो अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साथ आध्यात्मिकता का पाठ भी उसके लिये सामाजिक देन ही होता है। इस तरह परस्पर के हिनो से व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध जुडा रहता है, जिसके लिये प्रयास यह होना चाहिये कि वह सन्तुलित और समन्वित रूप मे बना रहे।

ऐसे समन्वित रूप के अस्तित्व मे व्यक्ति अपनी उच्चतम उन्नति की दिशा मे तेजी से बढ सकता है, क्योकि सारी सामाजिक व्यवस्था उसकी गति मे योग देने वाली होगी। धरातल है तो समाज है, और धरातल जितना समतल और सुखद होगा, व्यक्ति उस पर उतनी ही तेजी और विश्वास से चल सकेगा, बल्कि दौड सकेगा। समाज के श्रेष्ठ वातावरण मे व्यक्ति अपनी आत्म-साधना की उत्कृष्ट स्थिति भी सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है।

व्यक्ति, समूह और समाज एव उनके बीच समन्वय का सापेक्ष दृष्टिकोण के साथ मूल्याकन किया जायगा तो वैसी स्थिति व्यक्ति के सभी क्षेत्रो मे उच्चतम विकास को पूर्णतया अनुप्राणित करेगी। इसके साथ ही व्यक्ति को अपने आत्म स्वरूप को निर्मल वनाने एवं प्रभु अभिनन्दन के दर्शन करने के लिये अपनी ही निर्मित समाज-व्यवस्था को सुचारु एव उस योग्य बनाने से भी विरत नही रहना चाहिये।

लाल भवन
११-९-७२



● संवत्सरी की हार्दिकता

"मत मतभेदे रे जई पूछिये . . ."

ये भगवान् श्री अभिनन्दनदेव की प्रार्थना की पंक्तियाँ हैं। इस आत्मा को प्रभु के दर्शन की प्यास है। यह प्यास जितनी तीव्र होगी, अन्तःकरण को शुद्ध बनाने का यत्न भी उतना ही सघन रूप से आत्मा करेगी। क्योंकि जब तक अन्तःकरण दर्पणवत् न बन जाय, प्रभु का प्रतिबिम्ब उसमें कैसे दिखाई दे सकता है? इसी प्यास का सहज प्रकटीकरण प्रार्थना के रूप में उद्भूत होता है। वाणी के माध्यम से प्रभु के स्वरूप का गुणगान करने की भावना प्रार्थना की वृत्ति को जगाती है।

[illegible] दर्शन पाना सब चाहते हैं, लेकिन चेतना-शुद्धि के बिना यह संभव नहीं है और चेतना-शुद्धि के लिए साधना का [illegible] बनना चाहिए—[illegible] [illegible] दृढ़ बनाने के लिए [illegible] रुचि परिलक्षित हो नहीं पा रही है। किन्तु [illegible] महापर्व का पवित्र अवसर है, इस पर चेतना शुद्धि का [illegible] [illegible] नहीं। बिना क्रम के [illegible] और [illegible]-दर्शन [illegible] की प्राप्ति के लिए निश्चय ही [illegible] कठिन होता है, जिसके लिए ज्ञान, ध्यान और चारित्र के [illegible] की [illegible] आराधना आवश्यक है।

और काम-काज करते समय सदैव यह सतर्कता बनानी होगी कि हर समय कुविचारो या कुकृत्यो की तनिक सी भी मलिनता आत्मा को मलिन न बनाए। जब ऐसा अभ्यास पुष्ट होने लगेगा तब जीवन मे विशुद्धता का एक स्थिर स्वभाव बनता जायगा। इस पुष्ट अभ्यास के बाद ही अन्त करण की शुद्धि आस-पास और दूर तक के सारे वातावरण मे चमकने लगेगी।

परम निर्मलता की धारा मे जब आत्मा को अपूर्व तृप्ति मिलेगी तो जीवन का चहुँमुखी विकास प्रभावपूर्ण बन जायगा, बल्कि वह विकास सारे समाज मे एक नई स्फूर्ति और प्रेरणा फूँकने लगेगा। साधारणत. जहाँ चतुर्मुखी विकास का सुअवसर आता है तो उस समय कई प्रकार की उलझने भी उपस्थित हो जाती है और उन उलझनो को सुलझाने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते है लेकिन प्रयत्न करते हुए भी इन्सान को सफलता के दर्शन नही होते है तो वह हतोत्साहित होने लगता है। उस समय ज्ञानियो के वचनो से ही पुन. प्रेरणा जागती है और उत्साह उत्पन्न होता है। इसलिए सदैव ज्ञानियो के वचनो को प्रकाश रेखा की तरह मानिये और अधकारपूर्ण अपने हृदयो मे उजाला कीजिये।

दर्शन विधि से ही होंगे

प्रभु के दर्शन अथवा अन्त'करण की शुद्धि के लिये ज्ञानियो द्वारा निर्देशित विधि का ही अनुकरण करना पडेगा। मजिल पर रास्ते से ही पहुँचा जा सकेगा और इस रास्ते का नाम ही विधि है। विधि का अर्थ है—रीति-नीति। व्यवस्थित रीति-नीति जीवन मे नही होगी तो अविधि की स्थिति मे लक्ष्य तो दूर रहा—उसका मार्ग भी हाथ नही आयगा। विधिपूर्वक साधना के पथ पर बढने से प्रभु के दर्शन सुलभ हो जायेंगे।

विधि की दृष्टि से ही सवत्सरी महापर्व का अपूर्व महात्म्य है। वर्ष में एक बार आने वाला यह महापर्व आत्मा को जगाने वाला होता है, इसीलिए सबको प्रतीक्षा रहती है कि कब यह महापर्व आए और कब आत्मा को अपनी उच्चतम सत्ता को प्राप्त करने की अथक लगन लगे ? यद्यपि इस महापर्व की आराधना के लिए पर्यूषण का पूरा सप्ताह मिला है जिसमे विचार मथन, तपाराधन एव चारित्र्य-साधना के द्वारा आत्मा ने काफी पृष्ठ-भूमिका तैयार कर ली होगी और आज आठवे दिन तो उस तैयारी के आधार पर उल्लेखनीय रूप से साधना को सफल बनाने का सबके लिए सुअवसर है। जैसा वीतराग देव ने विधि-विधान का उल्लेख किया है कि अलग-अलग स्तरो पर आचार का स्वरूप क्या हो—उसी विधि के अनुसार आत्मा चले और आगे बढती रहे तो एक दिन प्रभु के निजात्म रूप मे ही साक्षात् दर्शन अवश्य हो सकेंगे।

संवत्सरी का शुभ मुहूर्त

यदि हृदय में धर्म ध्यान की सच्ची निष्ठा है तो [illegible] की शुद्धि हेतु प्रारम्भ [illegible] संवत्सरी से बढ़कर दूसरा शुभ मुहूर्त नहीं हो सकता है। [illegible] ज्योतिषी से मुहूर्त निकलवाते हैं और उस मुहूर्त पर विश्वास करते [illegible] आरम्भ के लिए तत्पर बनते हैं। जब [illegible] मुहूर्त पर आप विश्वास कर लेते हैं तो तीर्थंकर देव द्वारा [illegible] संवत्सरी के [illegible] पर [illegible] कितना [illegible] विश्वास होना चाहिए?

भाद्रपद [illegible] पञ्चमी के दिन संवत्सरी मनाने का शुभ [illegible] भगवान [illegible] किया गया है। समवायांग सूत्र में इसका उल्लेख है कि एक मास और बीस रात्रि बीतने पर (भाद्रपद मास में) संवत्सरी मनाई जाय। शास्त्र के [illegible] संवत्सरी [illegible] भगवान [illegible] के बाद, जब [illegible] और चतुर्थी के दिन संवत्सरी मना कर इस परम्परा का [illegible] किया। यह परम्परा आचार्यों के [illegible] चली आ रही है [illegible] चतुर्विध संघ द्वारा [illegible] मनाई जाती है।

मे निहित होता है । भावना के साथ कर्म होता है तो वह अन्तर को निर्मल बनाता है और रूढता के साथ तथा बिना अन्तर की जागृति के किया जाने वाला कर्म सार्थक बने—इसकी कल्पना नही की जानी चाहिए । आखिर जिस शरीर मे से प्राण निकल जाय, उस लाश को कौन बुद्धिमान् कितनी देर तक अपने पास रखना चाहेगा ?

आयोजन प्राणवान् हो—इसका श्रेष्ठ अवसर भी सवत्सरी इसलिये है कि इसका निर्धारण शान्ति के ५०वें दिन किया गया है । जब सृष्टि मे प्रलयकारी परिवर्तन आता है तब सात-सात दिन की सात प्रकार की काल-वृष्टियाँ हुआ करती हैं और फिर ५०वे दिन शान्ति बरतती है । शान्ति के इस प्रसग को आत्मोत्थान के निमित्त नियोजित किया जाय—यह विशेष उत्साह का प्रसग बनता है । वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह निर्धारण सर्वथा उचित समय पर है—जिस समय मनुष्य के उत्कृष्ट भाव भी वर्षा के वेग वाले नालो की तरह तीव्र गति से प्रवाहित हो सकते है । वैसे पर्यूषण के पूरे सप्ताह मे भी जो आत्म-साधना न कर सका हो, वह आज के दिन तो उसकी प्राण-प्रतिष्ठा कर ही ले ।

बीता अवसर फिर नही आएगा

ससार मे कमाई के कामो का मोह बहुत से व्यापारी, किसान अथवा अन्य भाई नही छोड सकते होगे, फिर भी आज के दिन भी जिसने अपनी आत्मा की ओर लक्ष्य नही किया, उन्हे सोच लेना चाहिये कि बीता अवसर फिर नही आएगा ।

इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त याद आ गया है । एक गणित व ज्योतिष के विद्वान थे, किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी तथा उनकी पत्नि हर समय उनको कोसा करती थी । एक दिन उन्होने अपनी पत्नि से कहा—मैंने एक ऐसे मुहुर्त की जानकारी खोज निकाली है कि उस समय अगर चाहे जितनी जवारी गरम पानी मे डाल दी जायगी तो वह सब मोती बन जायगी । पत्नि को पहले तो अश्रद्धा हुई, फिर सोचा कि शायद अध्ययन से जानकारी हुई हो । उसने पूछा—वह मुहुर्त कब आएगा ? विद्वान् ने कहा—तुम जवारी, गरम पानी वगैरा तैयार कर लो, जब मैं अध्ययन के बीच 'हूँ' (हुँकार) कहूँ तो तुम समझ लेना कि वह मुहुर्त आ गया है। जवारी पानी मे डालने की तब एक पल की भी ढील मत करना, वरना मुहुर्त निकल जाएगा ।

पत्नि तत्काल पडोसिन से बीस सेर जवारी मांगने निकल गई । पडोसिन ने कारण पूछा तो उसने सब बात सच-सच बता दी । पडोसिन ने उसे बीस सेर जवारी दे दी, किन्तु स्वय ने भी साफ जवारी व गरम पानी तैयार कर लिया तथा विद्वान् के मकान की तरफ वाली दीवार पर कान लगाकर बैठ गई कि ज्यो ही 'हूँ' का सकेत

मे निहित होता है। भावना के साथ कर्म होता है तो वह अन्तर को निर्मल बनाता है और रूढता के साथ तथा बिना अन्तर की जागृति के किया जाने वाला कर्म सार्थक बने—इसकी कल्पना नही की जानी चाहिए। आखिर जिस शरीर मे से प्राण निकल जाय, उस लाश को कौन बुद्धिमान् कितनी देर तक अपने पास रखना चाहेगा?

आयोजन प्राणवान् हो—इसका श्रेष्ठ अवसर भी सवत्सरी इसलिये है कि इसका निर्धारण शान्ति के ५०वें दिन किया गया है। जब सृष्टि मे प्रलयकारी परिवर्तन आता है तब सात-सात दिन की सात प्रकार की काल-वृष्टियाँ हुआ करती हैं और फिर ५०वे दिन शान्ति वरतती है। शान्ति के इस प्रसग को आत्मोत्थान के निमित्त नियोजित किया जाय—यह विशेष उत्साह का प्रसग बनता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह निर्धारण सर्वथा उचित समय पर है—जिस समय मनुष्य के उत्कृष्ट भाव भी वर्षा के वेग वाले नालो की तरह तीव्र गति से प्रवाहित हो सकते हैं। वैसे पर्यूषण के पूरे सप्ताह मे भी जो आत्म-साधना न कर सका हो, वह आज के दिन तो उसकी प्राण-प्रतिष्ठा कर ही ले।

बीता अवसर फिर नही आएगा

ससार मे कमाई के कामो का मोह बहुत से व्यापारी, किसान अथवा अन्य भाई नही छोड सकते होगे, फिर भी आज के दिन भी जिसने अपनी आत्मा की ओर लक्ष्य नही किया, उन्हे सोच लेना चाहिये कि बीता अवसर फिर नही आएगा।

इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त याद आ गया है। एक गणित व ज्योतिष के विद्वान थे, किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी तथा उनकी पत्नि हर समय उनको कोसा करती थी। एक दिन उन्होने अपनी पत्नि से कहा—मैंने एक ऐसे मुहुर्त की जानकारी खोज निकाली है कि उस समय अगर चाहे जितनी जवारी गरम पानी मे डाल दी जायगी तो वह सब मोती बन जायगी। पत्नि को पहले तो अश्रद्धा हुई, फिर सोचा कि शायद अध्ययन से जानकारी हुई हो। उसने पूछा—वह मुहुर्त कब आएगा? विद्वान् ने कहा—तुम जवारी, गरम पानी वगैरा तैयार कर लो, जब मैं अध्ययन के बीच 'हूँ' (हुँकार) कहूँ तो तुम समझ लेना कि वह मुहुर्त आ गया है। जवारी पानी मे डालने की तब एक पल की भी ढील मत करना, वरना मुहुर्त निकल जाएगा।

पत्नि तत्काल पडोसिन से बीस सेर जवारी माँगने निकल गई। पडोसिन ने कारण पूछा तो उसने सब बात सच-सच बता दी। पडोसिन ने उसे बीस सेर जवारी दे दी, किन्तु स्वयं ने भी साफ जवारी व गरम पानी तैयार कर लिया तथा विद्वान् के मकान की तरफ वाली दीवार पर कान लगाकर बैठ गई कि ज्यो ही 'हूँ' का सकेत

[illegible] गर्म पानी में डाल देती क्योंकि मोती बनने का मुहूर्त तो [illegible]।

मुहूर्त आते ही विद्वान ने 'हूँ' शब्द का उच्चारण किया। असावधान पत्नि ने [illegible] —क्या हूँ? विद्वान सोचने लगा कि समय [illegible] नहीं रही है। मैंने पहले ही बता दिया था कि बोलने [illegible] का समय नहीं रहता। पर वह समय तो निकल गया। समय के बाद [illegible] पत्नि ने ज्वारी गर्म पानी में डाली सो तो भूगी बन गई। जब उसने [illegible] वह अतीव क्रुद्ध हो उठी।

[illegible] का सावधानीपूर्वक ध्यान रखा और 'हूँ' सुनते ही [illegible] ज्वारी गर्म पानी में डाल दी। सारी ज्वारी मोती बन गई। उसने विद्वान् [illegible] के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये मुट्ठी भर मोती लेकर उन्हें भेंट [illegible] आई। विद्वान् को तो अपने सही ज्ञान की प्रसन्नता हुई, किन्तु [illegible] दासी दरबार विद्वान् की पत्नि के पछतावे का ठिकाना नहीं रहा। वह गिड़गिड़ाकर विद्वान् से बोली—मेरे से भूल हो गई, अब ऐसा ही [illegible] और निगाह कीजिये। विद्वान ने कहा—बीता हुआ अवसर फिर लौटकर नहीं आया करता। पल में आप जो साध लिया, वह साध लिया वरना वह [illegible] नहीं।

निवास करना। साध्य है आत्मिक शक्तियो का सम्पूर्ण दर्शन करके उस दिव्य शक्ति मे अपने दृश्य को अभिव्यक्त कर लेना। इसका साधन है—परि-उपसमना। विषय-विकारो को शान्त करना ही इस महापर्व की आराधना करना है। जब विषय विकार शान्त होते है तो जीवन की निर्मलता बढती है। कषाय नष्ट होती है तो शत्रुओ को मित्र बना लिया जाता है। और ऐसी साधना करने का आत्यन्तिक मुहुर्त यह पर्वराज का समय है। इस समय मे आप सावधान बने और अपने अन्त.करण को शुद्ध बनाने के सुकृत्य मे लगे तो स्मरण रखिये, यह मोती बनाने का वक्त है और वक्त से आपने मोती बना लिये तो महान् आत्मिक ऋद्धि के स्वामी बन सकेंगे।

तपाराधन की क्रान्ति

इन दिनो मे तपस्या का रग जोर पकड रहा है और बहिनो का मुकाबिला भाई नही कर पा रहे है। किसी भी क्षेत्र मे हो, माताओ की शक्ति ही क्रान्ति का स्वर फूंका करती है। शास्त्र मे आपने श्रवण किया होगा कि काली आदि महारानियो ने कितनी कठोर तपश्चर्या करके अपने शरीर के विकारो को सुखाया और किस प्रकार भावना शुद्धि करके आध्यात्मिक जीवन को चमकाया। आत्मा और शरीर—दोनो के विकार तपाराधन से नष्ट होते है, इसी कारण इसको क्रान्तिकारी माना गया है।

आज शायद ही कोई उपवास से वचित होगा। संवत्सरी के एक दिन तो सभी उपवास रखते है। आप जानते है कि ससार मे अन्य पर्वो पर तो माल-मिष्ठान्न खाया जाता है और इस पर्वराज पर अन्न त्याग किया जाता है। इस पर्व की यही विधि रखी गई है—क्योकि यह पर्व आत्मा की साधना, आराधना और अर्चना का है। उपवास की स्थिति मे मन के माध्यम से अपनी बुद्धि को स्थिर करके आत्मा मे निवास करना होता है। मन को स्थिर रखने के लिए चचलता का त्याग जरूरी है। चचलता छूटती है कषाय पर नियत्रण करने से, और जब विचार एव विवेकपूर्वक उपवास होता है तो मनुष्य आत्म-नियन्त्रण द्वारा ध्यान की स्थिति को सुदृढ बना सकता है।

सारी विवेकपूर्ण विचारणा एव साधना के बाद भी प्रतिक्रमण का प्रसग आता है। जिस समय अपनी आलोचना करने के बाद जो एकाग्रता और शुद्धता की अवस्था अन्तमन मे बनती है, उसकी हार्दिकता मे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। क्षमा-याचना की मृदुता के पश्चात् शत्रु शत्रु रह ही कैसे सकता है?

विश्व-मैत्री का अवसर

सावत्सरिक प्रतिक्रमण के पश्चात् विषय-कषाय के विकार शान्त होने चाहिये। विकार शान्ति का ही फल होगा कि ससार के समस्त जीवो से क्षमायाचना

की [illegible] आत्मीयता पैदा होगी और कुछ रूप में उनमें [illegible] का [illegible] बढ़ेगा [illegible]। किसी [illegible] या किसी न किसी प्रकार की [illegible], [illegible] कि [illegible] नहीं था। [illegible] नहीं होगी और भरपूर जोर पर [illegible] होगी तो उनमें [illegible] का ही [illegible] होगा। सारे संसार के साथ मित्रता को ही विश्व-मैत्री कहा है। और सब प्राणियों में सब भूतों, [illegible] न देखने का हम [illegible] लेते हैं तो [illegible] कि यह सब सभी का समान एवं विश्व-मैत्री स्थापित करने का कितना सुन्दर [illegible] है?

और वन्दी सहित लौट रहे थे तो मार्ग मे संवत्मरी के महापर्व का अवसर आ गया। आज जिसे मन्दसौर नगर कहते हैं—यह वहाँ की घटना है।

उदायन राजा की उदारता इतनी थी कि बन्दी होने के वावजूद सम्मान की दृष्टि से रोज चंडप्रद्योत को साथ भोजन कराते थे। संवत्सरी के पहले दिन उन्होंने चडप्रद्योत को कहलाया कि कल उनका उपवास होगा, अत वे अपना इच्छित भोजन बनवा ले। चडप्रद्योत ने इसे कोई कूटनीतिक चाल समझी सो उसने भी कहला दिया कि वह भी उनके साथ उपवास करेगा। सावत्सरिक प्रतिक्रमण करने के बाद जब क्षमायाचना का प्रसंग आया तो उदायन राजा ने मुहुर्त को साधते हुए चंडप्रद्योत से सच्चे हृदय से क्षमायाचना की। वे अपराधी को क्षमा भी करने को तैयार थे, बशर्ते कि अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर ले। चडप्रद्योत ने इसे छुटकारे का अवसर जान अपना अपराध स्वीकार कर लिया तो उदायन ने उसे क्षमा करते हुए विजित राज्य को लौटा दिया तथा एक राजकन्या का उसके साथ विवाह करके उस स्वर्ण-कुटिका दासी को भी उस उपलक्ष मे भेंट कर दी।

'क्षमा' का ऐसा सच्चा और ऊँचा उदाहरण आज सबके लिये प्रेरणा का स्रोत बनना चाहिये। अन्तःकरण से यदि क्षमायाचना नही की तो वह कैसी क्षमायाचना है? मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि उपवास, बेला, तेला, अठाई कर लें किन्तु वैर-भाव को मिटाने के लिये तैयार नही हो तो वैसा व्यक्ति सम्यक् दृष्टि नही कहला सकेगा। विद्वेष मिटाने के लिये आप सामने वाले का इन्तजार क्यो करते हैं? अपने आप को पवित्र बनाना है तो उस अवसर को हाथ से क्यो गुमाएँ? अगला आदमी क्षमा-याचना करे या नही करे—जिसे अपनी आत्मा का भान है, वह आगे वढ़कर पहले क्षमायाचना कर ले—यह वाछनीय है।

क्षमा—शान्ति की जननि है

'क्षमा' वीरो का भूषण है क्योकि वीर जानता है कि उससे शान्ति का प्रसार होगा। व्रत ग्रहण नही करना कमजोरी है, फिर भी प्रतिक्रमण करना सर्वथा उचित है लेकिन विधि से प्रतिक्रमण कर लेने के वाद मन मे कृत्रिमता नही रहनी चाहिये। स्वाभाविक रूप से मानस शुद्धि होनी चाहिये और उसके फलस्वरूप क्षमा की गगा वहनी चाहिये। ऐसी अपूर्व क्षमा से ही शान्ति का स्थायित्व वनता है। सवसे सच्ची क्षमायाचना करने के वाद किसी से मनमुटाव रहेगा नही और क्षमायाचक सावधान रहता है तो भविष्य मे मनमुटाव होगा नही—फिर भला शान्ति क्यो नही रहेगी?

राजनीतिक क्षेत्र मे भी आपने अभी यह प्रयोग देखा है। इन्दिरा जी ने जीत कर भी वंगला देश वही के लोगो को दे दिया तथा आक्रामक पाकिस्तान को भी विजित भूमि लौटाने का निश्चय कर शान्ति का कदम उठाया है। शान्ति की दृष्टि

के अलावा भी इस ग्रन्थ का [illegible] और [illegible] हो सकते हैं। इसके [illegible] युद्ध से [illegible] की [illegible] और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्देश्य भी स्पष्ट बताया जा चुका है।

शान्ति की बात की जाती है। किन्तु मेरा मानना है कि केवल [illegible] की ही शान्ति न हो, [illegible] बौद्धिक शान्ति हो, सिर्फ [illegible] की शान्ति न हो, आत्मा की शान्ति हो। [illegible] दर्शन के साथ [illegible] जीवन में यदि ऐसी शान्ति [illegible] हो गई तो आत्मशुद्धि और प्रभु-दर्शन की स्थिति सम्भव हो सकती है। [illegible] ऐसी सार्थकता [illegible] करने की आवश्यकता है जिससे [illegible] और [illegible] शान्ति का वातावरण बन सके। इस अवसर पर [illegible] के बावजूद भी मैं इसकी उपयोगी [illegible] सार्थकता [illegible] करता हूँ।

[illegible] भवन
१२-६-९२



पावन-प्रवचन में वर्णित प्रार्थना

या

परिशिष्ट

२—श्री अजित जिन-स्तवन

(राग—आशावरी)

पंथडो निहालु' रे बीजा जिन तणो रे,
अजित अजित गुणधाम,
जे तें जीत्या रे ते मुझ जीतियो रे,
पुरुष किश्यु' मुज नाम—पंथडो·······॥ १ ॥

चरम नयण करी मारग जोवतां रे,
भूल्यो सयल संसार,
जेणे नयणे करी मारग जोइये रे,
नयण ते दिव्य विचार—पंथडो·······॥ २ ॥

पुरुष परम्पर अनुभव जोवता रे,
अंधो अंध पुलाय,
वस्तु विचारे रे जो आग मे करी रे,
चरण धरण नही ठाय—पंथड़ो·······॥ ३ ॥

तर्क विचारे रे वाद परंपरा रे,
पार न पहोचे कोय,
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे,
ते बिरला जग जोय—पंथडो·······॥ ४ ॥

वस्तु विचारे रे दिव्य नयनतणो रे,
विरह पड्यो निरधार,
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे,
वासित बोध आधार—पंथड़ो·······॥ ५ ॥

काललब्धि लही पंथ निहालशु' रे,
ए आशा अवलम्ब,
ए जन जीवे रे जिनजी जाणजो रे,
"आनन्दघन" मत अंब—पथडो·······॥ ६ ॥

४—श्री अभिनन्दन जिन-स्तवन

(राग—धनाश्री सिंधुडा)

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये,
दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये,
सहु थापे अहयेव—अभि०……॥ १ ॥

सामान्ये करी दरिशण दोहिलुं,
निर्णय सकल विशेष,
मद मे घेर्यो रे अंधो केम करे,
रवि शशि रूप विलेख—अभि०……॥ २ ॥

हेतु विवादे हो चित्त धरी जोई ए,
अति दुर्गम नयवाद,
आगमवादे हो गुरूगम को नही,
ए सबलो विषवाद—अभि०……॥ ३ ॥

घाती डुंगर आडा अति घणा,
तुज दरिशण जगनाथ,
ढिठाइ करी मारग संचरूं,
सेंगु कोइ न साथ—अभि०……॥ ४ ॥

दर्शन दर्शन रटतो जो फरूं,
तो रण रोझ समान,
जेहने पिपासा हो अमृत पाननी,
किम भाजे विषपान—अभि०……॥ ५ ॥

तरस न आवे हो मरण जीवनतणो,
सीजे जो दर्शन काज,
दरिशण दुर्लभ सुलभ कृपाथकी,
'आनन्दघन' महाराज—अभि०……॥ ६ ॥

नही रहती, पैसा बडा बन जाता है। दूसरो का हित नही—अपना स्वार्थ इष्ट हो जाता है। सहयोग और त्याग से विमुख बनकर वह भोग की लालसा मे भटकने लग जाता है। समाज पर जब ऐसा असर दिखाई देने लगता है और उसमे जो वीभत्स दृश्यो की सृष्टि होती है, उसी के मूल मे आज की विडम्बना का कारण समाया हुआ है।

इन्द्रिय सुख के जिन भोग्य पदार्थों को पाने के पीछे जिस बुरी कदर आज आप भाग रहे है और उस धुन मे न आपको अपने साथी के दर्द का ख्याल है तो न समाज और राष्ट्र के पतन का–तो क्या वे भोग्य पदार्थ आपके शासक हुए ? क्या आप आज जड के अनुशासन मे नही चल रहे हैं ? जहाँ जड का अनुशासन है, वहाँ चेतन का अनुशासन विना उपयुक्त परिवर्तन के कैसे आ सकता है ? अधकार मे दीपशिखा के लगने पर ही प्रकाश फैल सकता है, किन्तु वैसी दीपशिखा को प्रज्वलित करने के लिये सद्ज्ञान और सद्विवेक की आवश्यकता होती है।

विवेकहीनता का प्रभाव

भारत मे अधिकाशतः आज भारतीय सस्कृति को भूलकर लोग विवेकहीनता के रूप मे पश्चिमी सस्कृति मे रगे जा रहे हैं। यह अन्धी नकल का भी परिणाम है। साधारण रूप से वातावरण ऐसा दिखाई देता है, जैसे विवेकहीनता कुएँ मे भाग की तरह चारो ओर फैल गई है तथा फैलती ही जा रही है। भारतीय सस्कृति और उसमे भी जो निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति जीवन के उदात्त स्वरूप को प्रकाशित करने वाली है, उसके प्रवाहमान होते हुए भी भारतीय मस्तिष्क भोग-प्रधान पाश्चात्य सस्कृति की तरफ झुकता जा रहा है। यह अतीव शोचनीय वस्तुस्थिति है।

जिस इन्सान का विचार स्वय के सत्त्व को ग्रहण नही करे किन्तु अन्धानुकरण की प्रवृत्ति मे पड जाय, उसका विवेक तो इतना क्षीण हो जाता है कि उस इन्सान की निर्णायक शक्ति भी समाप्त हो जाती है। जब समाज मे इस प्रकार के इन्सानो का बहुमत हो जाय, तब वह सामज भी एक प्रकार से पगु बन जाता है।

अनुकरण की अन्धता

बुद्धि और विवेकहीन अनुकरण को अन्धानुकरण कहते है। आज भारतीयो का कुछ ऐसा ही रूपक बना हुआ है। रहन-सहन मे नकल, खान-पान मे नकल, विषय सेवन मे नकल, वाहन उपयोग मे नकल, गृह-निर्माण मे नकल, रीति-रिवाजो मे नकल। समझ मे नही आता कि किस क्षेत्र मे नकल नही चल रही है अथवा कौन सा क्षेत्र असली बच रहा है। ऐसी बिना अकल की नकल न तो देश की सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल है और न ही भारतीय जलवायु के अनुकूल। आश्चर्य है कि फिर भी नकल बेहिसाब चल रही है।

नही रहती, पैसा बडा बन जाता है। दूसरो का हित नही—अपना स्वार्थ इष्ट हो जाता है। सहयोग और त्याग से विमुख बनकर वह भोग की लालसा मे भटकने लग जाता है। समाज पर जब ऐसा असर दिखाई देने लगता है और उसमे जो वीभत्स दृश्यो की सृष्टि होती है, उसी के मूल मे आज की विडम्बना का कारण समाया हुआ है।

इन्द्रिय सुख के जिन भोग्य पदार्थों को पाने के पीछे जिस बुरी कदर आज आप भाग रहे हैं और उस धुन मे न आपको अपने साथी के दर्द का ख्याल है तो न समाज और राष्ट्र के पतन का–तो क्या वे भोग्य पदार्थ आपके शासक हुए ? क्या आप आज जड के अनुशासन मे नही चल रहे है ? जहाँ जड का अनुशासन है, वहाँ चेतन का अनुशासन विना उपयुक्त परिवर्तत के कैसे आ सकता है ? अधकार मे दीपशिखा के लगने पर ही प्रकाश फैल सकता है, किन्तु वैसी दीपशिखा को प्रज्वलित करने के लिये सद्ज्ञान और सद्विवेक की आवश्यकता होती है।

विवेकहीनता का प्रभाव

भारत मे अधिकाशतः आज भारतीय सस्कृति को भूलकर लोग विवेकहीनता के रूप मे पश्चिमी सस्कृति मे रगे जा रहे है। यह अन्धी नकल का भी परिणाम है। साधारण रूप से वातावरण ऐसा दिखाई देता है, जैसे विवेकहीनता कुएँ मे भाग की तरह चारो ओर फैल गई है तथा फैलती ही जा रही है। भारतीय सस्कृति और उसमे भी जो निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति जीवन के उदात्त स्वरूप को प्रकाशित करने वाली है, उसके प्रवाहमान होते हुए भी भारतीय मस्तिष्क भोग-प्रधान पाश्चात्य सस्कृति की तरफ झुकता जा रहा है। यह अतीव शोचनीय वस्तुस्थिति है।

जिस इन्सान का विचार स्वयं के सत्त्व को ग्रहण नही करे किन्तु अन्धानुकरण की प्रवृत्ति मे पड जाय, उसका विवेक तो इतना क्षीण हो जाता है कि उस इन्सान की निर्णायक शक्ति भी समाप्त हो जाती है। जब समाज मे इस प्रकार के इन्सानो का बहुमत हो जाय, तब वह सामज भी एक प्रकार से पगु बन जाता है।

अनुकरण की अन्धता

बुद्धि और विवेकहीन अनुकरण को अन्धानुकरण कहते हैं। आज भारतीयो का कुछ ऐसा ही रूपक बना हुआ है। रहन-सहन मे नकल, खान-पान मे नकल, विषय सेवन मे नकल, वाहन उपयोग मे नकल, गृह-निर्माण मे नकल, रीति-रिवाजो मे नकल। समझ मे नही आता कि किस क्षेत्र मे नकल नही चल रही है अथवा कौन सा क्षेत्र असली बच रहा है। ऐसी बिना अकल की नकल न तो देश की सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल है और न ही भारतीय जलवायु के अनुकूल। आश्चर्य है कि फिर भी नकल बेहिसाब चल रही है।

बेअकल की नकल की जड मे नियन्त्रण का अभाव है—आत्म-नियन्त्रण का अभाव। बिना सहारे का पतग आकाश मे उडता जाय और कब नकल की डोर कट जाय और कहाँ की कहाँ पतग जाकर गिर जाय—इसका कुछ भी अता-पता नही। भारतीयो की अन्धता के विपरीत विदेशो मे ऐसा वातावरण बन रहा है कि विदेशी लोग विवेकपूर्वक भारतीय पद्धति को कई क्षेत्रो मे अपना रहे हैं। कैसा दुर्योग है—भारतीयो और विदेशियो के विवेक मे ?

इस अन्धानुकरण के कारण भी है। वे मुख्यत हैं—एक-डेढ शताब्दि की राष्ट्रीय पराधीनता, आर्थिक क्षेत्र की विषमता, शिक्षा का अभाव। विदेशी शासन ने राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास करके देशवासियो को दुर्बल बना दिया और उन्हे अपनी सस्कृति को अपनाने के लिये विवश भी किया। इस विवशता के पीछे प्रलोभन भी था। किन्तु आश्चर्य तो इस तथ्य का है कि उस विदेशी शासन को देश छोडे हुए पाव शताब्दि हो गई, फिर भी न तो लोग नकल की परम्पराओ को छोड सके और न ही भारतीय परम्पराओ को अपनाने लग। अपने साहित्य और भाषा के प्रति अनुराग नही पैदा हुआ, तब ऐसा दिग्भ्रमित भारतीय जन कैसे रुचि पूर्वक आध्यात्मिक तत्त्वो एव सन्त ससर्ग के महत्त्व को समझे एव जीवन मे उतारे ?

अतीत का सहयोगी जीवन

भारतीय इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ बताते हैं कि प्राचीन काल मे भारतीय जीवन अतीव सहयोगी था। सबके बीच बिना भेद-भाव से सहयोग की जीवन-पद्धति होने के कारण सारे समाज मे एक परस्पर की स्वस्थ अनुराग की भावना भरी रहती थी। अनुराग त्याग और बलिदान के शुभ भावो को जगाने वाला होता है, क्योकि जहाँ स्व की अपेक्षा परहित की ओर सजग वृत्ति बनी हुई हो, वहाँ अपने ही लिये लेने और इकट्ठा करने की आदत नही होती। वहाँ तो अपना भी दूसरो के लिये छोड देने की त्याग वृत्ति बन जाती है। सहयोग से त्याग की ओर गति, आत्मा को उन्नति के मार्ग की ओर आगे बढाती है।

अन्तगढ सूत्र मे ही अतीत के सहयोगी जीवन का एक सुन्दर चित्रण आया है। त्रिखडाधिपति श्रीकृष्ण जब चतुरगिणी सेना के साथ शोभा-यात्रा बनाकर भगवान् श्री अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जा रहे थे, तब रास्ते मे उन्हे एक दृश्य दिखाई दिया कि ईटो का एक ढेर पडा है और एक वृद्ध एक-एक करके ईटो को धीरे-धीरे घर मे ले जा रहा है। श्री कृष्ण ने वृद्ध के प्रति सहयोग का विचार किया और वे हाथी से नीचे उतर पडे। वे ढेर के पास पहुंचे और ईट लेकर घर मे रखने लगे। उनका ईट को उठाना क्या हुआ कि शोभायात्रा के सारे लोगो ने सहयोग का हाथ बढाया और देखते-देखते ईटो का ढेर उठ गया। सहयोग का परिणाम ऐसा ही सुखद होता है।

सहयोग का एक अकबर-बीरबली किस्सा

अकबर ने एक बार बीरवल के सामने श्रीकृष्ण की मजाक उडाते हुए कहा कि उनका अपने अनुचरो पर नियत्रण विल्कुल नही था, तभी तो ग्राह से फँसे गज ने पुकारा तो वे स्वय ही भागे गये। क्या वे किसी वलिष्ठ अनुचर को वहाँ नही भेज सकते थे ? बीरवल ने कहा कि इसका मैं वक्त पर जवाब दूँगा।

तब बीरवल ने एक चाल चली। किसी को भी कोई सूचना दिये विना चुपके से शहजादे को उसने अपने घर बुलवा लिया तथा स्नेह से उसकी राजकीय पोशाक खुलवा कर वैसे ही एक मोम के पुतले को पहनादी। फिर उस पुतले को बादशाह के खास घूमने के बाग के हौज मे डलवा दिया। वह ऐसा लग रहा था, जैसे हूबहू शहजादा ही उसमे गिरा पडा हो।

जब बीरबल महलो मे पहुँचा तो वहाँ भारी कोहराम मचा हुआ था। किसी को भी पता नही था कि शहजादा कहाँ चला गया है ? अकबर बादशाद खुद बेसब्री से इधर-उधर चक्कर लगा रहा था। ऊपर से बीरबल ने सारी स्थिति की जानकारी लेकर नौकरो को शहजादे की तलाश के लिये अलग-अलग जगहो पर भेजा तथा खुद ने बादशाह को मन बहलाने के नजरिये से उद्यान मे घूमने चलने का आग्रह किया। उद्यान मे भी बीरबल जान-बूझकर पहले बादशाह को उसी हौज की तरफ ले गया और खुद इस तरह चलने लगा जैसे हौज का उसको कोई ख्याल ही न हो।

अकस्मात् अकबर की नजर हौज पर पडी और उसके साथ ही मोम के पुतले पर। पोशाक से अकबर को निश्चय हो गया कि यह शहजादा ही है। उसने बीरबल तक को कुछ नही कहा और तुरन्त बादशाह हौज मे कूद पडा। खैर, शहजादा तो नही मिला, मगर जब बादशाह बडे अफसोस के साथ बाहर निकला तो वहाँ बीरबल ने घर से शहजादे को बुलवा लिया था, सो उसे बादशाह के आगे खडा करके वह बोला—जहाँपनाह, आज मे श्रीकृष्ण वाली आपकी बात का जवाव देना चाहता हूँ किन्तु पहले पूछूँ कि आपने नौकरो को नही कहा, मुझे भी नही कहा और खुद ही हौज मे कूद पडे तो क्या आपका भी अपने अनुचरो पर नियन्त्रण नही है ?

अकबर एकदम सारे मामले को समझ गया और शहजादे को गोद मे लेकर मुस्कराते हुए कहने लगा—बेटे के लिये बाप का ऐसा ही दिल होता है कि उस काम को वह खुद ही जल्दी से जल्दी कर लेना चाहता है। तब बीरबल ने समझाया—हुजूर, पुराने जमाने मे इस देश मे एक-दूसरे का और राजा तथा प्रजा का आपसी सहयोग इतना गहरा था कि राजा न सिर्फ मनुष्यो को, बल्कि सभी प्राणियो को अपनी ही सन्तान के तुल्य समझता था। इस कारण जब गज ने गुहार की तो श्रीकृष्ण खुद ही नंगे पैरो उसे बचाने दौड गये।

किस्से का मतलव यह है कि प्राचीन काल के भारतीय जीवन मे पग-पग पर सहयोग की भावना घुली हुई थी। विवाह-शादी हो तो उसका बोझा एक ही पर नही होता था। सभी श्रम और अर्थ-दोनो से सहयोग देते थे। मरण मे शोक-सन्तप्तो को सबका ऐसा विश्वास और सहवास मिलता था कि दु ख जल्दी ही कम हो जाता था। कोई भी उत्सव या कार्य हो—उसके लिये सभी का सहयोग सदा उपलब्ध रहता था। इस जोवन-पद्धति का सवसे वडा प्रभाव यह होता था कि देश के जीवन मे शान्ति और सन्तोप का वातावरण छाया रहता था और इस वातावरण का सीधा प्रभाव मनुष्यो के मन व मस्तिष्क पर आध्यात्मिक प्रगति के रूप मे पडता था। इससे लोगो मे चेतना जाग्रत रहती और आचरण-शुद्धता बनी रहती। वैसी अवस्था मे धर्म के प्रति रुचि, सन्त ससर्ग के प्रति आकर्षण और आत्मोत्थान के प्रति उत्साह अमित मात्रा मे दिखाई देता था। सहयोग की लाली सारे राष्ट्र के चेहरे पर एक तरल आभा फैलाए रखती थी।

सहयोग से भोग की ओर

इतिहास वताता है कि विदेशियो के आक्रमण एव शासन के साथ भारतीय जीवन मे विकृतिकारक परिवर्तन होने लगे। विदेशी सत्ता के छल-छद्म से सहयोग की की दीवारें टूटने लगी—भाई-भाई तक आपस मे लडने लगे। त्याग और बलिदान की भावनाएँ ओझल होने लगी—स्वार्थ सवसे ऊपर चढ गया। उन्नत भारतीय समाज का यह विकृतिकरण अ ग्रेजो के शासन काल मे तीव्रतम बन गया क्योकि उन्होने सभी ओर से भारतीय सस्कृति को काटना शुरू कर दिया और उसकी जगह भोग एव स्वार्थ-मूलक पाश्चात्य सस्कृति का उन्होने प्रसार किया। फैशन का प्रचार किया गया और शुद्ध चरित्र पर निरन्तर प्रहार करने वाले सिनेमा जैसे कई साधन खडे कर दिये गये।

सवसे वडी हानि यही हुई कि भारतीय जन का व्यक्तिगत और राष्ट्रीय चरित्र गिरता ही चला गया। सहयोग के आधार पर वर्षों से सचित उसकी नैतिकता टूक-टूक हो गई है। जव भोग प्रधान बन जाय तो आदमी इन्द्रिय सुख के विषयो के पीछे ही तो वेतहाशा दौड लगाने लगता है और जो ज्यादा अर्जन करता है, वह अधिक से अधिक भोग लिप्त होता चला जाता है। अन्धानुकरण से सिर्फ बुराइयो का अनुकरण होता है, अच्छाइयो का नही—क्योकि उसके लिये तो विवेक की जरूरत पडती है।

भारतीय समाज की दुर्गति का वर्तमान चित्र देखें तो दिखाई देगा कि सहयोग किसी स्तर पर नही है और अपने ही भोग—अपनी ही सुख-सुविधा के लिये हर कोई एक-दूसरे का गला काटने को तैयार हो जाता है। भोग-भावना के प्रसार से प्रति-शोध और अपराधो का विस्तार होता है। आज भाई-भाई के साथ किस प्रकार का व्यवहार कर रहे है, हर क्षेत्र और वर्ग मे कितनी नैतिकता व ईमानदारी है, समाज,

राष्ट्र तथा समग्र मानव जाति व प्राणि वर्ग के प्रति कितनी सद्भावना है—इन सबकी आलोचना करते-करते जैसे थकान-सी आने लगी है। वर्तमान जीवन मे प्रयास करने पर भी नैतिकता का धरातल तथा सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि इसलिये सफल नही बन पा रही है कि कुव्यवस्था एव भोगी जीवन के पक्षपाती ऐसे कुकार्य कर गुजरते हैं, सम्पत्ति का इस तरह दुरुपयोग करते हैं तथा नये-नये कुरीत-रिवाजो को जन्म देते रहते है कि सत्प्रयास करने वालो की मेहनत पर पानी फिर जाता है।

भोग-मूलक जीवन समाप्त करें

विपय भोग की छिछली भावनाओ मे किस प्रकार इस अमूल्य मानव जीवन की घडियाँ वरवाद की जा रही हैं—इस पर आप स्वय को गंभीर चिन्तन करना है। वस्तुतः परिवर्तन की अनिवार्य आवश्यकता है, किन्तु वह परिवर्तन अन्धानुकरण वाला नही होना चाहिये—सद विवेक और सदाशयता वाला होना चाहिये। विवेक के साथ जव परिवर्तन होगा तो भोग से पुनः सहयोग की ओर वढाने वाला परिवर्तन होगा। सहयोग की भावना जव फिर से प्रवल बनेगी तो कई आत्मिक सद्गुण स्वत· ही व्यक्तिगत एव सामूहिक जीवन मे प्रवेश करने लगेंगे और उसमे नया ओज भरने लगेंगे।

समता जीवन के निर्माण की दृष्टि से श्री वालचद जी ने जो २१-सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया है, वह सवके लिये विचारणीय है। सद्गुणी पुरुपो के अन्दर—चाहे वे किसी देश, जाति, वर्म या वर्ग के हो—जो राष्ट्रीय भावना हो, एकत्त्व भावना हो, सामाजिक जीवन का स्नेह और माधुर्य्य हो तो उनका अपने देश-काल-भाव की दृष्टि से सविवेक अनुकरण अवश्य करे और उससे अपने जीवन मे आध्यात्मिक दृष्टि से परिवर्तन लाने की सोचे तथा समता सिद्धान्त की ऊँचाइयो तक अपनी आत्मा की प्रगति को उठाने का यत्न करें।

परिवर्तन विवेकपूर्ण हो

आप जीवन मे आमूल चूल परिवर्तन करना चाहे तो वह भी विवेकपूर्ण तथा आध्यात्मिक अकुश के साथ होना चाहिये। अन्तगढ सूत्र के जीवन प्रसग इस पवित्र परिवर्तन को प्रोत्साहन देने वाले है। आज के जीवन मे अनियत्रित अवस्था मे होने के कारण शक्ति का जिस कदर अपव्यय हो रहा है, उसके नियत्रण की आवश्यकता है ताकि उसके वल पर सार्थक परिवर्तन लाया जा सके। विवेक, सहयोग और त्याग की दिशा मे अगर व्यक्ति के जीवन मे स्वस्थ परिवर्तन लाया जायगा तो वही परिवर्तन व्यक्ति-व्यक्ति के सम्वन्ध मे सामाजिक अथवा राष्ट्रीय परिवर्तन के रूप मे सफल वन सकेगा। क्योंकि प्रवुद्ध व्यक्तियो के समूह के प्रयास से नये समाज की रचना

होगी और नया क्रान्तिकारी समाज राष्ट्र के नव-निर्माण को सजीव रूप दे सकेगा। तब श्रेष्ठ राष्ट्र ही विश्व-शान्ति को चिर स्थायी रूप दे सकेंगे।

जब परिवर्तन की ऐसी प्रक्रिया चले जो ऊर्ध्वगामी हो तो वैसा ही परिवर्तन आत्मा के मूल स्वरूप पर चढे कर्म रूप मैल को धोकर स्वरूप को निर्मल और उज्ज्वल बना देगा।

सहयोग की सहृदयता

आप धार्मिक अनुष्ठान के रूप मे दया की आराधना करते हैं—उसका अभिप्राय यही है कि जीवन मे दया की तरलता फैले—सहयोग की सहृदयता का विकास हो। इस दृष्टि से क्या आप अपने अभावग्रस्त छोटे भाइयो के दुखी जीवन की ओर देखते हैं ? श्रीकृष्ण ने वूढे की ई ट उठाई और उसकी सब ई टें उठ गई—क्या आप भी किसी गरीब का दर्द हल्का करने के लिये हाथ बढाते हैं ? सहयोग की सहृदयता का तो यही अर्थ होता है कि आप दलित और पतित वर्ग के हमदर्द बन जाएँ।

आज इस दिशा मे चिन्तन किया जाय कि पहले का सहयोगी जीवन भोगी क्यो बनता जा रहा है तथा इस गति को मोडकर पुन उसे सहयोग और त्याग की मधुरता मे कैसे ढाला जा सकता है ? इस चिन्तन की सफल क्रियान्विति से ही जीवन मे समतामय परिवर्तन लाया जा सकेगा।

लाल भवन
६-६-७२



● अपरिग्रह की आवाज

"मुग्ध सुगम करि सेवन आदरे रे........."

प्रभु सम्भवदेव की प्रार्थना के जरिये जो सेवा के रूप को समझने की कोशिश की जा रही है, वह सेवा सरल नही है। प्रभु-सेवा अति दुरूह है, किन्तु वह उसके लिये सरल भी बन जाती है जो सासारिक पदार्थों से आसक्ति हटा लेता है और सहज आत्मीयता के अनुभाव मे तल्लीन हो जाता है। ऐसी अवस्था मे पुद्गलो पर ममत्त्व नही रहता किन्तु संसार मे उनके लिये जिस प्रकार से अन्याय होता है और मनुष्यता कुचली जाती है, उसके विरुद्ध भी वह अपनी आत्म-शक्ति लगाकर सब के साथ समान न्याय की प्रतिष्ठा करना चाहता है। मनुष्य ही क्या, सारा प्राणी समाज परमात्मा की दृष्टि से समान न्याय का अभिलाषी होता है। अत. उनमे दर्शन एव व्यवहार दोनो दृष्टि से समता का प्रसार हो—यह सच्ची प्रभु सेवा का ही एक अभिन्न अंग माना जाना चाहिये।

सरल और जटिल बनने का यही कारण प्रभु सेवा के साथ जुडा हुआ है कि जब जीवन का सहज एव सर्वसुखकारी स्वरूप अन्तर्मन मे प्रकाशमान् हो उठता है तब तो सरलता की स्थिति रहती है, परन्तु यदि यह आत्मा पर-पदार्थ को स्व समझ ममत्त्व और विकार मे डूबी रहे तथा अपने सच्चे स्वरूप को समझने की रुचि ही पैदा न हो तो उसके लिये प्रभु सेवा निश्चय ही जटिल होती है, क्योकि उसे सरल बनाने के लिये वैसी आत्मा को पहले सद्ज्ञान एव कर्मठ साधना की प्रक्रिया से गुजरना होगा। तादात्म्य सम्बन्ध का प्रश्न है कि आत्मा इस सम्बन्ध को अपने स्वरूप से जोडती है अथवा ससार के योग्य पदार्थों से—जबकि वास्तविक रूप मे आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध भौतिक तत्त्वो के साथ नही बैठना चाहिये।

भौतिक पदार्थों की उपयोगिता

जहाँ तक आत्मा के मूल स्वरूप का प्रश्न है, अन्ततोगत्वा भौतिकता से पूर्णतः नाता तोडना ही पडता है। किन्तु आत्मा ने जो मानव-शरीर धारण किया है तथा

ससार मे जन्म लिया है—इसमे विना भौतिक पदार्थों के सहयोग के एक पग बढाना भी कठिन होगा और तो और, स्वय शरीर भी पौद्गलिक ही होता है ।

इस दृष्टि से ससार के भौतिक पदार्थों का सभी मानव-देहधारियो के लिये जीवन निर्वाह की दृष्टि से समान महत्त्व होता है । पदार्थों को दो प्रकारो मे बाँटा जा सकता है—एक तो वे आधारगत पदार्थ, जैसे भोजन, वस्त्र, मकान आदि जिनके विना मनुष्य का जीना तक कठिन हो । इन्हे अनिवार्य आवश्यक पदार्थ कहा जा सकता है । दूसरे पदार्थ वे, जो विशेष सुख-सुविधा देने वाले होते हैं और जिन्हे एक प्रकार के विलासिता के साधन के रूप मे भी देखा जा सकता है । पहले सवकी समान रूप से अनिवार्य आवश्यकताओ की तो पूर्ति हो ही—यह जरूरी है और उसके वाद सामान्य रूप से सवकी सुख-सुविधा के पदार्थ हो और उनकी उपलब्धि समान रूप से हो तो वे विलासिता का रूप भी ग्रहण नही करेंगे ।

जव तक आत्मा शरीरधारी रहता है, उसको भौतिक पदार्थों के उपयोग की जरूरत रहती ही है, और इस कारण इनकी उपयोगिता से इन्कार नही किया जा सकता है ।

बुराई की जड़ ममत्त्व मे है

'जल मे कमलवत्' जो कहा जाता है, उसका यह अर्थ होता है कि पानी मे रहते हुए भी कमल जिस तरह पानी से दूर रहता है, उसी तरह भौतिक पदार्थों का उपयोग करते हुए भी—परिग्रह को अपने पास रखते हुए भी जो उसके प्रति ममत्त्व की तनिक सी मात्रा अपनी भावना मे नही रखता—उसके जैसे जीवन के लिये ही 'जल मे कमलवत्' कहा जाता है । असल मे बुराई की जड स्वय भौतिक पदार्थों मे नही, वल्कि उनके प्रति रखे जाने वाले ममत्त्व और उस ममत्त्व से पैदा होने वाले विकारो मे ही रहती है ।

जैन दर्शन मे परिग्रह की जो परिभाषा की गई है, वह इसी दृष्टिकोण पर आधारित है । कहा है—

"मुच्छा परिग्गहो ।"

परिग्रह सोना-चाँदी या अन्य सम्पत्ति को नही वताया गया है, वल्कि 'मूर्छा' को कहा गया है । मूर्छा अर्थात् बेसुध अवस्था, और यह वेसुध अवस्था ममत्त्व की स्थिति मे पैदा होती है । इसलिये ममत्त्व को ही परिग्रह वताया है । एक धनवान हो सकता है, फिर भी सम्भव है कि वह परिग्रही न हो—क्योकि विना ममत्त्व के यदि कमलवत् उसका जीवन है तो वह मन के परिणामो से अपरिग्रही होगा । इसी प्रकार एक दीन पुरुष भी परिग्रही हो सकता है—यदि उसके परिणामो मे ममत्त्व की गहरी मात्रा भरी हुई हो ।

ममत्त्व के दृष्टिकोण से ही भरत महाराज के तेल के कटोरे का दृष्टान्त कहा गया है। भरत महाराज छ खण्ड के अधिपति थे—उनके पास ऋद्धि-सिद्धि की प्रचुरता का क्या कहना ? तो उनके विषय मे दो नागरिको मे विवाद पैदा हो गया और वह विवाद भरत महाराज तक पहुँचा। एक का कहना था कि भरत महाराज अत्यन्त परिग्रही है, तो दूसरे का कहना था कि वे कमलवत् होने के कारण ममत्त्व मे फँसे हुए नही हैं। अपने ही प्रति विवाद का कैसे निर्णय करें—यह उनके सामने धर्म-सकट उपस्थित हो गया।

उस नागरिक को समझाने के लिये भरत महाराज ने एक व्यावहारिक तरकीब निकाली जो उन्हे परिग्रही बता रहा था। नगर मे चौराहे-चौराहे पर सुन्दर नाटको और नृत्यो का आयोजन किया गया तथा सब ओर आकर्षक सजावट कराई गई। फिर उस नागरिक के हाथो मे तेल से लबालब भरा एक कटोरा देकर ऊपर से सैनिको को उसके सामने आदेश दिया कि इस नागरिक द्वारा नगर भ्रमण करते समय यदि एक भी बूँद तेल की इस कटोरे से गिर जाय तो उसी समय नंगी तलवार से इसका सिर उडा देना। फिर नागरिक को कहा कि वह नगर भ्रमण कर आवे और उसका वृत्तान्त उन्हे सुनावे।

नागरिक जब वापिस लौटा और उससे नगर का वृत्तान्त पूछा गया तो उसने कहा—मैंने तो कुछ नही देखा मेरी दृष्टि तेल के कटोरे से एक पल के लिये भी इधर-उधर नही मुडी। भरत महाराज ने कहा—इतने सुन्दर नृत्य और नाटक भी तुमने नही देखे ? नागरिक ने सिर हिला दिया, तब भरत महाराज ने समझाया कि इसी प्रकार सत्ता और सम्पत्ति की अतुल प्रचुरता के वे स्वामी अवश्य है किन्तु अपनी दृष्टि सदा वे अपनी आत्मा पर लगाये रहते हैं, जिससे उन्हे उनके सारे परिग्रह पर भी कोई ममत्त्व नही है। तेल के कटोरे को आत्मा मान लो, नृत्य नाटक को परिग्रह तथा तलवार को मृत्यु—फिर अपने ही अनुभव से मेरी स्थिति समझ लो—यह आग्रह भरत महाराज ने उस नागरिक से किया। नागरिक को भी स्थिति सहज ही मे समझ मे आ गई कि वास्तव मे ममत्त्व ही परिग्रह है।

ममत्त्व से विषमता की उत्पत्ति

यह मेरा है और इसका उपयोग मैं ही करूँगा—ऐसा ममत्त्व जब भौतिक पदार्थो के प्रति इन्सान का बन जाता है, तब वह उन पदार्थो का सचय करना चाहता है। और यदि वे पदार्थ आसानी से प्राप्त नही होते हो तो अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके एवं अकरणीय कार्य करके भी उनको प्राप्त करने की कोशिश करता रहता है। यह ममत्त्व जितना घना बनता जाता है, सचय एव सग्रह की वृत्ति भी बढती जाती है, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि जो सभी प्रकार की शारीरिक एवं

मानसिक शक्तियो से सयुक्त होते है, वे अधिक सग्रह करने मे समर्थ हो जाते हैं तथा अन्य पिछड जाते हैं। इस अधिक सग्रह से बहुत लोगो के पास अभावग्रस्तता की स्थिति वन जाती है।

विषमता का प्रारम्भ इसी स्थिति से होता है। आज विश्व की स्थिति पर दृष्टि डालें तो दिखाई देगा कि आत्माएँ विषमता का अनुभव कर रही हैं। विभिन्न दृष्टिकोणो, विभिन्न व्यवस्थाओ एव विभिन्न उपायो से अर्थोपार्जन एव सग्रह के उदाहरण सबके समक्ष उपस्थित हैं। इस अमानवीय अर्जन एव सग्रह की दौड मे दौडने वाली आत्माएँ अपने सहज स्वरूप को भूल कर असहज भाव-परिणाम स्वरूप उपलब्ध सामग्री को ग्रहण करने मे तन्मय हो रही हैं। तो इस प्रकार की तन्मयता अथवा उन्मत्तता ने ही मानव-मानव के वीच बहुत बडी विषमता की खाई तैयार कर दी है।

समता का धरातल आवश्यक

आज का मानव इस ममत्त्व वुद्धि के साथ विचित्र रूप मे दृष्टिगत हो रहा है। ऐमी विचित्रता के वीच मे विषमता की दीवारो को ढहाकर समान मानवता की स्थिति लाने के लिये समता का धरातल आवश्यक है। किन्तु प्रश्न है कि समता का धरातल वनेगा कब और कैसे ? मूल रूप से समता का धरातल तभी वनेगा जबकि कोई अपने सहज एव कमलवत् अवस्था के अनुभाव पर आत्मा को आरूढ करके उन सगृहीत भौतिक पदार्थों के साथ मे ममत्त्व पूर्ण तादाम्य सम्बन्ध न रखकर उन्हे सहज उपलब्धि के साधन के रूप मे ग्रहण करे तथा सामाजिक न्याय की दृष्टि से आवश्यक रूप से उनका उत्सर्ग करने मे कतई सकोच न करें।

अभी श्री ढढ्ढा जी ने अपरिग्रह के विषय मे चर्चा के कुछ सूत्र उपस्थित किये हैं जो विचारणीय हैं, किन्तु यह चर्चा वहुत पुराने समय से चलती आ रही है, वल्कि यो कहना चाहिये कि प्राग् ऐतिहासिक काल मे अथवा प्राचीन काल मे भी इस देश की सामाजिक व्यवस्था मे समता का बहुत वडा स्थान था और वह समता अपरिग्रह-वाद पर ही आधारित थी। असल मे तो वर्तमान समय मे ही परिग्रह का ममत्त्व चारो ओर असीमित एव अमर्यादित अवस्था मे बढ रहा है और ऐसी दशा मे अपरि-ग्रहवाद पर विचार करना अधिक उपयोगी हो सकता है। आवश्यकता इस वात की है कि अपरिग्रहवाद पर होने वाली चर्चाओ का यथेष्ट परिणाम जन-समूह के समक्ष आना चाहिये ताकि भावनात्मक दृष्टि से इस विचार के पक्ष मे वातावरण बनाया जा सके और उसके आधार पर आज फैली हुई विषमता को मिटाकर समता के सुदृढ धरातल का निर्माण किया जा सके।

अपरिग्रह का स्वरूप

अपरिग्रह के स्वरूप को समझने के पूर्व परिग्रह की परिभाषा को यदि मस्तिष्क मे ले लिया जाय तो फिर अपरिग्रह का स्वरूप भी सुबोध हो जायगा। शास्त्रो एवं तत्त्वज्ञो ने परिग्रह की परिभाषा विस्तार से की है। किन्तु पहले शब्दो से बनने वाली व्युत्पत्ति पर विचार कर ले। परिग्रह शब्द परि और ग्रह के सयोग से बना है। परि उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है—'समन्तात्' अर्थात् चारो ओर से दूसरो से तथा ग्रह का अर्थ—ग्रहण करना लेना। परिग्रह की जिस शास्त्रीय परिभाषा का ऊपर उल्लेख किया है उसी के अनुरूप ही यह व्युत्पत्ति सम्बन्धी परिभाषा भी बनती है। व्युत्पत्ति पर आधारित परिभाषा यह है—

"मूर्छाभावेन यद् ग्राह्यते तद्परिग्रहम्।"

जो चारो ओर से—दूसरो से मूर्छा याने ममत्त्व भाव से ग्रहण किया जाय, वह परिग्रह है। चारो ओर से का मतलब चारो दिशाओ या सभी स्थानो से लिया जा सकता है। इन्सान के मन और मस्तिष्क मे जब पर-पदार्थ की लालसा तीव्र मात्रा मे प्रकट होती है, उस वक्त इन्सान किसी स्थल-विशेष को जोडता पसन्द नही करता है। जहाँ से भी उसकी लालसा की तृप्ति होगी, वहाँ तक भी वह अपने हाथ-पैरो को फैलाने मे सकोच नही करेगा।

इस परिभाषा के साथ यदि आज के मानव के रूपक को लिया जाय तो अधिकाश मानव यत्र-तत्र-सर्वत्र—चहुँ ओर लालसा के गहरे गढ्ढे को भरने के लिये सब प्रकार से हाथ-पैरो को पटक रहे हैं। इस छटपटाहट मे मानव न पडोसी को देख पा रहा है, न उसका दृष्टिकोण समाज के विभिन्न वर्गों की ओर है, और न ही उसकी दृष्टि मे राष्ट्रीय स्थिति का महत्त्व है। ऐसी परिस्थिति मे आत्मिक दृष्टि से वह अपने स्वय के महत्त्व से भी विस्मृत बना हुआ है। पर-पदार्थो के प्रति पनपती जा रही तीव्र लालसा ने आत्मा के सहज भाव को क्षीण बना दिया है। यह पर-पदार्थों की लालसा निरन्तर आत्मशक्ति को दुर्बल बनाती हुई चली जा रही है।

आत्मा की शक्ति का सहज बल आज इस परिग्रह की मात्रा से आच्छादित है। परिग्रह-लालसा की वृत्तियो से आत्मा का सहज भाव दबकर आज कराह रहा है। किन्तु आपाधापी के इस जमाने मे आज उस आवाज को सुनने के लिये कौन तैयार है? इस लालसा की जड को अन्तरतम मे से काटना तथा भौतिकता का तादात्म्य सम्बन्ध आत्मा के साथ नही मानना—यही अपरिग्रह वृत्ति का लक्षण है।

कराहती हुई आत्मा की आवाज

अपरिग्रहवादी ही कराहती हुई आत्मा की आवाज को सुनता है तथा उसको लालसाओ के दमन से मुक्त करता है। जिस व्यक्ति के मन-मस्तिष्क मे उस दबी हुई

आत्मा की आवाज का स्वर आया है, वह अवश्य ही इस दिशा मे चिन्तन प्रारम्भ करता है कि स्वय की आत्मा को कैसे जगाए तथा सम्पूर्ण विश्व के मनुष्यो तथा प्राणी-समाज के प्रति समान आत्मानुभूति कैसे उत्पन्न करे ? जो स्वय की आत्मा की कराह को भी अनसुनी करके इस परिग्रह की दौड मे बेभान होकर भागता जाता है, वह तो राह मे मिलने वाली कराहती अन्य आत्माओ को भी ठोकर मारकर अपनी अमानवीयता का ही प्रदर्शन करता है।

पर्यूषण पर्व के दिनो मे जिस अन्तगढ सूत्र का वाचन चल रहा है, उसमे उन्ही आत्माओ के जीवन-वृत्त आये हैं जिन्होने परिग्रह-मूर्छा से अपने आपको ऊपर उठाया तथा अपने आत्मबल को विकसित करके उत्कृष्ट स्थिति की प्राप्ति की। किन्तु प्रतिवर्ष इन जीवन-वृत्तो को सुनकर भी आपकी लालसाओ की जो दशा देखने मे आती है उससे लगता है कि सारा वर्णन ऊपर-ऊपर से ही सुना जाता है, जो ऊपर-ऊपर से ही बह कर वापिस बाहर चला जाता है। जिस हौज मे पहले ही गन्दा पानी लबालब भरा हुआ हो, उसमे कितना ही स्वच्छ जल डाला जायगा तो वह ऊपर-ऊपर ही से बाहर निकल जायगा। क्या मानव-मन की दशा ऐसे ही हौज जैसी तो आज नही हो रही है ?

अन्तस्तल को टटोलिये और धोइये

आज के मानव का मन भी परिग्रह लालसा से सम्बन्धित ऐसी गन्दगी से लबालब भरा हुआ है कि उसमे अपरिग्रह के विचारो की कितनी ही वर्षा हो जाय, किन्तु वह स्वच्छता वहाँ टिकती नही है। यदि अपरिग्रहवाद का स्वच्छ जल मन के सभी कोनो मे छिटकना है तो पहले अपने अन्तस्तल को टटोलिये, नीचे से गन्दगी को कुरेदिये और फिर सारे गदले पानी को बाहर फेंक कर अपरिग्रहवाद की वर्षा को ग्रहण कीजिये। परिग्रह की लालसा को मिटाना यो तो कोई सरल कार्य नही है। क्योकि जिसने ससार मे परिग्रह को ही सारभूत समझ कर अपनी सदाशयता की सारी मर्यादाएँ तोड रखी हैं, भला वह सरलता पूर्वक कैसे अर्थोपार्जन और सग्रह से अपनी लालसाओ को पीछे मोड सकता है ? उसके लिये यह प्रक्रिया बहुत कठिन है, परन्तु एक बार जब आत्मा मे जागृति का बीज उग जाय, तब फिर उसका परिवर्तन कठिन नही रहता।

अपरिग्रह की आवाज मानव-मन मे तभी गहराई से गूँज सकती है जब परिग्रह की लालसा को आत्मा के लिये अपवित्रता समझ कर उसे सम्पूर्ण रूप से धो डालने का सकल्प कर लिया जाय तथा अन्तर के सारे परिणामो को सहज बना लिया जाय। इस कारण प्रत्येक मानव को इस दिशा मे जागृत होना चाहिये कि वह आत्मिक शक्ति को इस परिग्रह के पिंड के नीचे से बाहर निकाले तथा उसे पुष्ट बनाए। यह परिग्रह की जो मूर्छा है—समझिये कि कचरा है, मैला है। स्वच्छ दर्पण पर जितना मैला—

कीट जम जाता है, उतनी ही उसकी आभा छिप जाती है। मैल को हटाते जाने पर धीरे-धीरे वह आभा पूर्णत फिर प्रकट भी हो जाती है।

आत्मा और दर्पण की आभा

दर्पण की तरह ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप के ऊपर इन पर-पदार्थों की लालसा का कीट—मैला जम रहा है जो उसकी आभा को छिपाए हुए है। आत्मा की इस आच्छादित शक्ति को अगर विकसित करना है एवं उसकी आभा को प्रकाशित वनाना है तो परिग्रह की मूर्छा को मिटा देना होगा तथा साथ ही न्याय-वुद्धि से यह भी देखना होगा कि इस मूर्छा की जडो तक को न सिर्फ अपने अन्तर से, वल्कि समग्र मानव समाज की व्यवस्था की निचली तह तक से समाप्त कर दिया जाय।

समाज, दर्शन एवं अर्थशास्त्रियो ने उन उपायो पर भी चिन्तन किया है—जिनके द्वारा समाज की व्यवस्था एवं मानव-मन से परिग्रह-मूर्छा को क्षीण वनाया जा सके। इसके लिये इन्होने स्वामित्व की व्यवस्था को समाप्त करने का सुझाव दिया है। स्वामित्त्व से ही ममत्त्व पैदा होता है। अगर एक मिल का कोई एक व्यक्ति स्वामी नही हो तो वह भी अन्य सवके साथ समान वृत्ति से कार्य करेगा और प्रतिफल प्राप्त करेगा, अन्यथा जो स्वामी होता है, वह उस मिल के जरिये अपने ही लिये अधिक से अधिक अर्जन करना चाहता है तो उस दृष्टि से उचित-अनुचित कार्य भी होते हैं तथा विषमता की खाई भी अधिक चौडी बनती है। इस विचार पर कई वाद बने हैं और उसकी विविध आलोचना भी होती है किन्तु यह सत्य स्पष्ट है कि चाहे स्वामित्त्व की स्थिति को समाप्त करके हो या दूसरे किसी प्रकार से, किन्तु ऐसी सामूहिक और व्यक्तिगत व्यवस्था करनी ही होगी जिसके दवाव से ही सही—मनुष्य इस मूर्छा-भाव से दूर हट सके। स्वयं की भी इस दिशा मे निष्ठा जगानी पडेगी।

मूर्छा रूपी मैल को हटाते जाने पर ही आत्मा की आभा प्रकटेगी तो उसकी आन्तरिक शक्ति भी प्रकट होने लगेगी। एक वार विकास की गति जम जायगी तो फिर एक दिन मजिल तक भी चरण वढ सकेगे जहाँ आत्मा की सम्पूर्ण आभा देदीप्यमान वन जाय तथा जहाँ आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति परमात्मा के स्वरूप के समकक्ष वनकर अमित रूप मे प्रकटित हो जाय।

अपरिग्रही की अन्तर्वृत्ति

अन्तगढ सूत्र मे ही सेठ सुदर्शन का वर्णन आया है जिन्होने अपरिग्रह का एक साकार रूप उपस्थित किया एवं एक अपरिग्रही समाज-रचना का दिव्य स्वरूप रखा। अपरिग्रह की यह प्रेरणा भी उन्हे भगवान् महावीर से ही प्राप्त हुई थी। उन महावीर से जिन्होने चतुर्विध सघ के रूप मे अपरिग्रही समाज की रचना का सूत्रपात किया। इस सघ मे जो परिग्रह की समस्त लालसाओ को ही समाप्त नही करते, वल्कि परिग्रह

का कोई प्रतीक भी अपने पास नही रखते, वे हैं साधु और साध्वी। सघ का आधा हिस्सा जो श्रावक और श्राविका का माना गया है, उनके लिये भी प्रावधान है कि वे पूर्ण रूप से परिग्रह को न छोडें, किन्तु मर्यादित रूप मे ही भौतिक पदार्थों को अपने पास रखें और लालसाओ को निरन्तर कम करते रहे। क्या समाज रचना का यह प्रेरक रूप आज प्रेरणा का स्रोत सबके लिये नही बन सकता ?

अपरिग्रही की अन्तर्वृत्ति ही इस रूप मे परिवर्तित हो जाती है कि उसकी हार्दिकता एव आत्मीयता सारे विश्व मे फैल जाती है और किसी भी दु खी के लिये स्वत ही फुटकर सहायक बनने के लिये उत्सुक बनी रहती है। पर-पदार्थों की लालसा मे ही स्वगुण विस्तृत बन जाते हैं। अत अपरिग्रही बन जाने की मनोदशा मे उन स्व-गुणो को ग्रहण करने की स्वाभाविक अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है।

सुदर्शन सेठ ने जिन स्व-गुणो के आधार पर क्रूरतम बने अर्जुन माली का हृदय ही परिवर्तित कर दिया, उसकी कथा आप सब जानते हैं। अर्जुन माली का खतरा उपस्थित होने से बाहर न निकलने की राजकीय घोषणा के बावजूद सुदर्शन सेठ इसलिये निर्भयतापूर्वक भगवान् के दर्शन करने के लिये निकल पडे कि उन्हे और तो अलग—स्वय के शरीर रूपी परिग्रह पर भी तनिक ममत्त्व नही था। आत्म तत्त्व की सहजता को ग्रहण करने के पश्चात् शरीर तक का मोह भी छूट जाता है। ऐसी होती है एक अपरिग्रही की अन्तर्वृत्ति।

अपरिग्रह से आत्मशक्ति का विकास

अपरिग्रह को जीवन मे उतार लेने पर जब आत्म-शक्ति का विकास होता है तो उसके प्रभाव से अनचाहे भी शारीरिक, वाचिक आदि अन्य शक्तियाँ भी पुष्ट हो जाती हैं। विशेषता यही होती है कि उस समय सब शक्तियो पर आत्म-शक्ति का ही अनुशासन होता है। सेठ सुदर्शन आज की तरह किसी वाहन पर दर्शनार्थ नही निकले, वे उस लम्बी दूरी पर भी पैदल ही निकल पडे। शारीरिक शक्ति से भी वे सम्पन्न थे। आज कई लोग माईक पर बोलने का सुझाव देते हैं, किन्तु जब यह साधन नही था तब क्या विशाल जन समुदाय मे प्रवचन नही होते थे ? अभी का उदाहरण है जो स्व० आचार्य श्री फरमाते थे कि दस हजार की सभा मे भी श्रीमती सरोजिनी नायडू की आवाज मधुर और तेज सबको सुनाई देती थी।

'एकै साधे सब सधै' के अनुसार एक आत्म-शक्ति का यदि विकास होने लगे तो अन्य सासारिक शक्तियाँ एव उपलब्धियाँ अपने आप आपके श्री-चरणो मे गिरने लगेंगी और वह समय ऐसा श्रेष्ठ होगा कि फिर भी आपको उनके प्रति कोई व्यामोह नही होगा। एक निरपेक्ष दृष्टि से आप उन्हे देख भी लेंगे, तब भी सारा ध्यान आत्म-तत्त्व पर ही केन्द्रित रहेगा।

से अपात्र को भी क्षमा करने का साहस वीर पुरुष ही कर सकते हैं। सबसे सच्चे हृदय से क्षमायाचना की जाय तो विश्वमैत्री और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्देश्य भी सफल बनाया जा सकता है।

क्रान्ति की बात की जाती है। किन्तु मेरा कहना है कि केवल शब्दो की ही क्रान्ति न हो, वैचारिक एव बौद्धिक क्रान्ति हो, सिर्फ कथन की क्रान्ति न हो, आचरण की क्रान्ति हो। समता दर्शन के साथ समग्र जीवन मे यदि ऐसी क्रान्ति की गई तो आत्मशुद्धि और प्रभु-दर्शन की स्थिति समीप आ सकती है। पर्वराज सवत्सरी से ऐसी हार्दिकता ग्रहण करने की आवश्यकता है जिससे सच्ची क्षमा और स्थायी शान्ति का वातावरण बन सके। इस अवसर पर सतर्कता के बावजूद मैं भी सबसे अपनी हार्दिक क्षमायाचना प्रकट करता हूँ।

लाल भवन
१२-९-७२



पावस-प्रवचन में वर्णित प्रार्थना

का

परिशिष्ट

१—श्री ऋषभ जिन-स्तवन

(राग मारू)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे,
ओर न चाहुं रे कत,
रीझयो साहेब सग न परिहरे रे,
भागे सादि अनत—ऋषभ ...॥ १ ॥

प्रीत सगाई रे जगमा सहु करे रे,
प्रीत सगाई न कोय,
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही रे,
सोपाधिक धन खोय—ऋषभ ......॥ २ ॥

कोई कत कारण काष्ट भक्षण करे रे,
मलसु कत ने धाय,
ए मेलो नवि कइये संभवे रे,
मेलो ठाम न ठाय—ऋषभ ...॥ ३ ॥

कोई पतिरजन अति घणो तप करे रे,
पतिरंजन तन ताप,
ए पतिरंजन मे नवि चित्त धरयु रे,
रंजन धातु मेलाप—ऋषभ ......॥ ४ ॥

कोई कहे लीला रे अलख अलखतणी रे,
लख पूरे मन आश,
दोष-रहित ने लीला नवि घटे रे,
लीला दोष-विलास—ऋषभ ...॥ ५ ॥

चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्यु रे,
पूजा अखडित एह,
कपट रहित थई आतम अरपणा रे,
'आनन्दघन' पदरेह—ऋषभ ....॥ ६ ॥

●

२—श्री अजित जिन-स्तवन

(राग—आशावरी)

पथडो निहालुं रे बीजा जिन तणो रे,
अजित अजित गुणधाम,
जे तें जीत्या रे ते मुझ जीतियो रे,
पुरुष किश्युं मुज नाम—पंथडो·······॥ १ ॥

चरम नयण करी मारग जोवतां रे,
भूल्यो सयल संसार,
जेणे नयणे करी मारग जोइये रे,
नयण ते दिव्य विचार—पंथड़ो···· ·॥ २ ॥

पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे,
अंधो अंध पुलाय,
वस्तु विचारे रे जो आग मे करी रे,
चरण धरण नही ठाय—पंथडो·······॥ ३ ॥

तर्क विचारे रे वाद परंपरा रे,
पार न पहोचे कोय,
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे,
ते बिरला जग जोय—पंथडो·······॥ ४ ॥

वस्तु विचारे रे दिव्य नयनतणो रे,
विरह पड्यो निरधार,
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे,
वासित बोध आधार—पंथडो·······॥ ५ ॥

काललब्धि लही पंथ निहालशुं रे,
ए आशा अवलम्ब,
ए जन जीवे रे जिनजी जाणजो रे,
"आनन्दघन" मत अंब—पंथडो···· ···॥ ६ ॥

●

३—श्री सम्भव जिन-स्तवन

(राग—रामश्री)

सभवदेव ले धुर सेवो सवे रे,
लही प्रभु सेवन भेद,
सेवन कारण पहेली भूमिका रे,
अभय, अद्वेष, अखेद—सभव ……॥ १ ॥

भय चंचलता हो जे परिणामनी रे,
द्वेष अरोचक भाव,
खेद प्रवृत्ति हो करता थाकीए रे,
दोष सबोघ लखाव—संभव ‥ ॥ २ ॥

चरमावर्त्त हो चरम करण तथा रे,
भव परिणति परिपाक,
दोष टले वली दृष्टि खुले भली रे,
प्राप्ति प्रवचन वाक्—संभव ……॥ ३ ॥

परिचय पातिक घातक साघुशुं रे,
अकुशल अपचय चेत,
ग्रन्थ अघ्यातम श्रवण मनन करी रे,
परिशीलन नय हेत—सभव ‥॥ ४ ॥

कारण जोगे हो कारज नीपजे रे,
एमा कोइ न वाद,
पण कारणविण कारज साधिये रे,
ए निज मत उन्माद—सभव‥‥‥॥ ५ ॥

मुग्ध सुगम करी सेवन आदरे रे,
सेवन अगम अनुप,
देजो कदाचित् सेवक याचना रे,
"आनन्दघन" रसरूप—संभव ‥ ॥ ६ ॥

●

४—श्री अभिनन्दन जिन-स्तवन

(राग—धनाश्री सिंधुडा)

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये,
दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये,
सहु थापे अहयेव—अभि०...... ॥ १ ॥

सामान्ये करी दरिशण दोहिलुं,
निर्णय सकल विशेष,
मद मे घेर्‌यो रे अधो केम करे,
रवि शशि रूप विलेख—अभि० ......॥ २ ॥

हेतु विवादे हो चित्त धरी जोई ए,
अति दुर्गम नयवाद,
आगमवादे हो गुरूगम को नही,
ए सबलो विषवाद—अभि०........॥ ३ ॥

घाती डुगर आडा अति घणा,
तुज दरिशण जगनाथ,
ढिठाइ करी मारग सचरुँ,
सेंगु कोइ न साथ—अभि० ....॥ ४ ॥

दर्शन दर्शन रटतो जो फरूँ,
तो रण रोझ समान,
जेहने पिपासा हो अमृत पाननी,
किम भाजे विषपान—अभि०.......॥ ५ ॥

तरस न आवे हो मरण जीवनतणो,
सीजे जो दर्शन काज,
दरिशण दुर्लभ सुलभ कृपाथकी,
'आनन्दघन' महाराज—अभि०........॥ ६ ॥